

जैन परम्परा का ऐतिहासिक विश्लेषण

—प्रो० सागरमल जैन

श्रमण परम्परा :

जैन धर्म एक जीवित धर्म है और कोई भी जीवित धर्म देश और कालगत परिवर्तनों से अछूता नहीं रहता है। जब भी हम किसी धर्म के इतिहास की बात करते हैं तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि हम किसी स्थिर धर्म की बात नहीं करते हैं क्योंकि स्थिर धर्म का कोई इतिहास ही नहीं होता है। इतिहास तो उसी का होता है जो गतिशील है, परिवर्तनशील है। जो लोग यह मानते हैं कि जैन धर्म अपने आदिकाल से आज तक यथास्थिति में रहा है, वे बहुत बड़ी भ्रान्ति में हैं। जैन धर्म के इतिहास की इस चर्चा के प्रसंग में मैं उन परम्पराओं की और उन परिस्थितियों की चर्चा भी करना चाहूँगा, जिसमें अपने सुदूर अतीत से लेकर वर्तमान तक जैन धर्म ने अपनी करवटें बदली हैं और जिनमें उसका उद्भव और विकास हुआ है।

हमें इस सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट रहना चाहिए कि आज के जैन आचार-विचार या जैन-जीवन शैली ठीक वही नहीं है जो आज से पाँच सौ, हजार या दो हजार वर्ष पूर्व में थी। मात्र यही नहीं महावीर की आचार-मर्यादाएँ भी ठीक वैसी ही नहीं थीं जैसी पार्श्व की। पुनः पार्श्व की आचार-मर्यादाएँ ऋषभ आदि से भिन्न थीं—इस सत्य को प्राचीन आगमों और आगमिक व्याख्याओं में भी स्वीकार किया गया है। पुनः महावीर ने स्वयं भी अपनी स्वनिर्धारित आचार-मर्यादाओं में परिस्थितियों और अन्तरात्मा के आधार पर परिवर्तित किया है। श्रमण-धारा के पूर्वज वैदिक-त्रात्यों और आरण्यककाल के ऋषियों की जीवन-शैली भी ठीक वही नहीं थी, जो पार्श्व, महावीर, बुद्ध और गोशालक के श्रमणों की रही है। फिर भी यह मानना होगा कि महावीर और पार्श्व की श्रमण-परम्परा की पूर्वज यही त्रात्य परम्परा रही है। यद्यपि त्रात्य और जैन परम्पराओं के आचार-विचार में

पर्याप्त अन्तर रहा है, किन्तु यह नितान्त सत्य है कि यह जैन परम्परा इसी से विकसित हुई। भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में वातरशना मुनियों और ब्राह्मणों के जो उल्लेख उपलब्ध हुए हैं तथा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से ध्यानरत योगियों की जो सीलें उपलब्ध हुई हैं उनसे इतना तो निःसन्देह सिद्ध है कि अतिप्राचीन काल में भी निवृत्तिमार्गी योग-साधनापरायण ऋषियों का अस्तित्व था। वस्तुतः प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें वासना और विवेक के तत्त्व एक साथ उपस्थित वासनामूलक प्रवृत्ति प्रवर्तक धर्म को जन्म देती है तो विवेक-मूलक प्रवृत्ति निवृत्ति धर्म का कारण होती है। यद्यपि विवेक में वासना और संयम में सन्तुलन बनाने का प्रयास भी किया गया है किन्तु यह एक परवर्ती घटना है। व्यावहारिक रूप में यह समन्वय भी भारत के जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों ही परम्पराओं में पाया जाता है, फिर भी जहाँ जैन धर्म में निवृत्ति की प्रधानता रही, वहीं हिन्दू धर्म में प्रवृत्ति की प्रधानता रही। बौद्धों ने भोग और त्याग में या निवृत्ति और प्रवृत्ति में एक साथ सन्तुलन बनाने का प्रयास अवश्य किया था जिसका कुछ प्रभाव परवर्तीकाल के जैन धर्म आचार व्यवस्था पर आया है।

श्रमण परम्परा में न केवल जैन और बौद्ध धाराएँ ही सम्मिलित हैं, अपितु औपनिषदिक और सांख्य-योग की धारायें भी सम्मिलित हैं, जो आज बृहद् हिन्दू धर्म का ही अंग बन चुकी हैं। इनके अतिरिक्त आजीवक आदि अन्य कुछ धारायें भी थीं, जो विलुप्त हो चुकी हैं।

पारस्परिक सौहार्द की प्राचीन स्थिति :

सामान्यतया यह माना जाता है कि श्रमणधारा का जन्म वैदिक धारा की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ, किन्तु इसमें मात्र आंशिक सत्यता है। यह सही है कि वैदिक धारा प्रवृत्तिमार्गी थी और श्रमण धारा निवृत्तिमार्गी और इनके बीच वासना और विवेक अथवा भोग और त्याग के जीवनमूल्यों का संघर्ष था। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से तो श्रमणधारा का उद्भव मानव व्यक्तित्व के परिशोधन एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के प्रतिस्थापन का ही प्रयत्न था, जिसमें श्रमण-ब्राह्मण सभी सहभागी बने थे। ऋषिभाषित में इन ऋषियों को अर्हत् कहना और सूतकृतांग में इन्हें अपनी परम्परा से सम्मत मानना,

प्राचीनकाल में इन ऋषियों की परम्परा के बीच पारस्परिक सौहार्द का ही सूचक है ।

लगभग ई० पू० सातवीं-छठीं शताब्दी का युग एक ऐसा युग था, जब जन-समाज इन सभी श्रमणों, तपस्वियों, योग-साधकों एवं चिन्तकों के उपदेशों को आदरपूर्वक सुनता था और अपने जीवन को आध्यात्मिक एवं नैतिक साधना से जोड़ता था । फिर भी वह किसी वर्ग-विशेष से बँधा हुआ नहीं था । दूसरे शब्दों में उस युग में धर्म परम्पराओं या धार्मिक सम्प्रदायों का उद्भव नहीं हुआ था । क्रमशः इन श्रमणों, साधकों एवं चिन्तकों के आसपास शिष्यों, उपासकों एवं श्रद्धालुओं का एक वर्तुल खड़ा हुआ । शिष्यों एवं प्रशिष्यों की परम्परा चली और उनकी अलग-अलग पहचान बनने लगी । इसी क्रम में निर्ग्रन्थ परम्परा का उद्भव हुआ, जहाँ पार्श्व की परम्परा के श्रमण अपने को पार्श्वपत्य-निर्ग्रन्थ कहने लगे, वहीं वर्द्धमान महावीर के श्रमण अपने को ज्ञातपुत्रीय निर्ग्रन्थ कहने लगे । सिद्धार्थ गौतम बुद्ध का भिक्षु संघ शाक्यपुत्रीय श्रमण के नाम से पहचाना जाने लगा ।

पार्श्व और महावीर की एकीकृत परम्परा निर्ग्रन्थ के नाम से जानी जाने लगी । जैन धर्म का प्राचीन नाम हमें निर्ग्रन्थ धर्म के रूप में ही मिलता है । जैन शब्द तो महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष बाद अस्तित्व में आया है । अशोक (ई० पू० तृतीय शताब्दी), खारवेल (ई०पू० द्वितीय शताब्दी) आदि के शिलालेखों में जैन धर्म का उल्लेख निर्ग्रन्थ संघ के रूप में ही हुआ है ।

पार्श्व एवं महावीर की परम्परा :

ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग आदि से ज्ञात होता है कि पहले निर्ग्रन्थ धर्म में नमि, बाहुक, कपिल, नारायण (तारायण), अंगिरस, भारद्वाज, नारद आदि ऋषियों को भी जो कि वस्तुतः उनकी परम्परा के नहीं थे, अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था । पार्श्व और महावीर के समान इन्हें भी अर्हत् कहा गया था, किन्तु जब निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय पार्श्व और महावीर के प्रति केन्द्रित होने लगा तो इन्हें प्रत्येक-बुद्ध के रूप में सम्मानजनक स्थान तो दिया गया, किन्तु अपरोक्ष रूप से अपनी परम्परा से पृथक् मान लिया गया । इस प्रकार हम देखते हैं

कि ई० पू० पाँचवीं या चौथी शती में निर्ग्रन्थ संघ पार्श्व और महावीर तक सीमित हो गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रारम्भ में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ भी पृथक्-पृथक् ही थीं। यद्यपि उत्तराध्ययन एवं भगवतीसूत्र की सूचनानुसार महावीर के जीवनकाल में पार्श्व की परम्परा के कुछ श्रमण उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो उनके संघ में सम्मिलित हुए थे, किन्तु महावीर के जीवनकाल में उनकी और पार्श्व की परम्पराएँ पूर्णतः एकीकृत नहीं हो सकीं। उत्तराध्ययन में प्राप्त उल्लेख से ऐसा लगता है कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् ही श्रावस्ती में महावीर के प्रधान शिष्य गौतम और पार्श्वपत्य परम्परा के तत्कालीन आचार्य केशी ने परस्पर मिलकर दोनों संघों के एकीकरण की भूमिका तैयार की थी। यद्यपि आज हमारे पास ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पार्श्व की परम्परा पूर्णतः महावीर की परम्परा में विलीन हो गयी थी। फिर भी इतना निश्चित है कि पार्श्वपत्यों का एक बड़ा भाग महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो गया था और महावीर की परम्परा ने पार्श्व को अपनी ही परम्परा के पूर्वपुरुष के रूप में मान्य कर लिया था। पार्श्व के लिए 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग इसका प्रमाण है। कालान्तर में ऋषभ, नमि और अरिष्टनेमि जैसे प्राक्ऐतिहासिककाल के महान् व्यक्तियों को स्वीकार करके निर्ग्रन्थ परम्परा ने अपने अस्तित्व को अति प्राचीनकाल से जोड़ने का प्रयत्न किया।

आज ऐतिहासिक आधार पर यह बता पाना कठिन है कि ऋषभ की दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी विस्तृत मान्यताएँ क्या थीं और वे वर्तमान जैन परम्परा के कितनी निकट थीं, तो भी इतना निश्चित है कि ऋषभ संन्यास मार्ग के प्रवर्तक के रूप में ध्यान और तप पर अधिक बल देते थे। ऋषभ, अजित, अर, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर को छोड़कर अन्य तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में ऐतिहासिक साक्ष्य पूर्णतः मौन हैं और इनके प्रति हमारी आस्था का आधार परवर्ती काल के आगम और अन्य कथा ग्रन्थ ही हैं।

महावीर और भाजीवक परम्परा :

जैन धर्म के इस पूर्व-इतिहास की इस संक्षिप्त रूपरेखा देने के

पश्चात् जब हम पुनः महावीर के काल की ओर आते हैं तो कल्पसूत्र और भगवती में कुछ ऐसे सूचना सूत्र मिलते हैं, जिनके आधार पर ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर के, पार्श्वपत्नियों के अतिरिक्त, आजीवकों के साथ भी निकट सम्बन्धों की सूचना मिलती है।

जैनागमों और आगमिक व्याख्याओं में यह माना गया है कि महावीर के दीक्षित होने के दूसरे वर्ष में ही मंखलीपुत्र गोशालक उनके निकट सम्पर्क में आया था, कुछ वर्ष दोनों साथ भी रहे, किन्तु नियतिवाद और पुरुषार्थवाद सम्बन्धी मतभेदों के कारण दोनों अलग-अलग हो गये। हरमन जेकोबी ने तो यह कल्पना भी की है कि महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में नग्नता आदि जो आचार मार्ग की कठोरता है, वह गोशालक की आजीवक परम्परा का प्रभाव है। यह सत्य है कि गोशालक के पूर्व भी आजीवकों की एक परम्परा थी, जिसमें अर्जुन आदि आचार्य थे। फिर भी ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि कठोर साधना की यह परम्परा महावीर से आजीवक परम्परा में गई या आजीवक गोशालक द्वारा महावीर की परम्परा में आई।

निर्ग्रन्थ संघ की धर्म प्रसार यात्रा :

भगवान् महावीर के काल में उनके निर्ग्रन्थ संघ का प्रभाव-क्षेत्र बिहार एवं पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा उनके आसपास का प्रदेश ही था। किन्तु महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन सीमाओं में विस्तार होता गया। फिर भी आगमों और निर्युक्तियों की रचना तथा तीर्थंकरों की अवधारणा के विकास काल तक उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पंजाब एवं पश्चिमी राजस्थान के कुछ भाग तक ही निर्ग्रन्थों के विहार की अनुमति थी। तीर्थंकरों के कल्याण क्षेत्र भी यहीं तक सीमित थे। मात्र अरिष्टनेमि ही ऐसे तीर्थंकर हैं जिनका संबंध शूरसेन (मथुरा के आसपास के प्रदेश) के अतिरिक्त सौराष्ट्र से भी दिखाया गया है और उनका निर्वाण गिरनार पर्वत माना गया है। किन्तु आगमों में द्वारिका और गिरनार की जो निकटता वर्णित है वह यथार्थ स्थिति से भिन्न है। सम्भवतः अरिष्टनेमि और कृष्ण के निकट-सम्बन्ध होने के कारण ही कृष्ण के साथ-साथ अरिष्टनेमि का सम्बन्ध भी द्वारिका से जोड़ा गया होगा। अभी तक इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक साक्ष्यों का अभाव है। विद्वानों से अपेक्षा है कि इस दिशा में खोज करें।

जो कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य मिले हैं उससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ संघ अपने जन्मस्थल बिहार से दो दिशाओं में अपने प्रचार अभियान के लिए आगे बढ़ा। एक वर्ग दक्षिण-बिहार एवं बंगाल से उड़ीसा के रास्ते तमिलप्रदेश गया और वहीं से उसने श्रीलंका और सुवर्णदेश (जावा-सुमात्रा आदि) की यात्राएं कीं। लगभग ई०पू० दूसरी शती में बौद्धों के बढ़ते प्रभाव के कारण निर्ग्रन्थों को श्रीलंका से निकाल दिया गया। फलतः वे पुनः तमिलप्रदेश में आ गये। तमिलनाडु में लगभग ई०पू० प्रथम-द्वितीय शती से ब्राह्मी लिपि में अनेक जैन अभिलेख मिलते हैं, जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि निर्ग्रन्थ संघ महावीर के निर्वाण के लगभग दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् ही तमिलप्रदेश में पहुँच चुका था। मान्यता तो यह भी है कि आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित करके दक्षिण गये थे। यद्यपि इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता निर्विवाद नहीं है, क्योंकि घटना का उल्लेख करने वाला अभिलेख लगभग छठी-सातवीं शती का है। आज भी तमिलनाडु में जैनों की विपुल संख्या है और वे भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की प्राचीनतम परम्परा के प्रतिनिधि हैं। यद्यपि बिहार, बंगाल और उड़ीसा की प्राचीन जैन परम्परा कालक्रम में विलुप्त हो गयी है, किन्तु सराक जाति के रूप में उस परम्परा के अवशेष आज भी शेष हैं। 'सराक' शब्द श्रावक का ही अपभ्रंश रूप है और आज भी इस जाति में रात्रिभोजननिषेध जैसे कुछ संस्कार शेष हैं।

उत्तर और दक्षिण के निर्ग्रन्थ श्रमणों में आधार भेद :

दक्षिण में प्रविष्ट निर्ग्रन्थ संघ, अपने साथ विपुल प्राकृत जैन साहित्य तो नहीं ले जा सका, क्योंकि उस काल तक जैनागम साहित्य की पूर्ण रचना ही नहीं हो पाई थी, किन्तु वह अपने साथ श्रुत परम्परा से कुछ दार्शनिक विचारों एवं महावीर के कठोर आचारमार्ग को ही लेकर चला था, जिसे उसने बहुत काल तक सुरक्षित रखा। आज की दिगम्बर परम्परा का पूर्वज यही दक्षिणी अचेलनिर्ग्रन्थसंघ है। इस सम्बंध में अन्य कुछ मुद्दे भी ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय हैं। महावीर के अपने युग में भी उनका प्रभावक्षेत्र मुख्यतया दक्षिण बिहार ही था जिसका केन्द्र राजगृह था, जबकि बौद्धों एवं पार्श्वपित्यों का प्रभाव-

क्षेत्र उत्तरी बिहार एवं पूर्वोत्तर उत्तरप्रदेश रहा, जिसका केन्द्र श्रावस्ती था। महावीर के अचेल निर्ग्रन्थ संघ और पार्श्वपत्य सन्तरोत्तर (सचेल) निर्ग्रन्थ संघ के सम्मिलन की भूमिका भी श्रावस्ती में गौतम और केशी के नेतृत्व में तैयार हुई थी। महावीर द्वारा सर्वाधिक चातुर्मास राजगृह नालन्दा में और बुद्ध द्वारा सर्वाधिक चातुर्मास श्रावस्ती में व्यतीत करना होना भी इसी तथ्य का प्रमाण है। दक्षिण का जलवायु उत्तर की अपेक्षा गर्म था अतः अचेलता के परिपालन में दक्षिण में गये निर्ग्रन्थ संघ को कोई कठिनाई नहीं हुई, जबकि उत्तर के निर्ग्रन्थ संघ में कुछ पार्श्वपत्यों के प्रभाव से और कुछ अति शीतल जलवायु के कारण यह अचेलता अक्षुण्ण नहीं रह सकी और एक वस्त्र रखा जाने लगा। स्वभावतः भी दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के निवासी अधिक सुविधावादी होते हैं। बौद्ध धर्म में भी बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् सुविधाओं की माँग वात्सीपुत्रीय भिक्षुओं ने ही की थी, जो उत्तरी तराई क्षेत्र के थे। बौद्ध पिटक साहित्य में निर्ग्रन्थों को एकशाटक और आजीवकों को नग्न कहा गया है जो यह भी यही सूचित करता है कि लज्जा और शीतनिवारण हेतु उत्तरभारत का निर्ग्रन्थ संघ कम से कम एक वस्त्र तो रखने लग गया था। मथुरा में ईस्वी सत् प्रथम शताब्दी के आसपास की जैन श्रमणों की जो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें सभी श्रमणों को एक वस्त्र से युक्त दिखाया गया है। वे सामान्यतया नग्न रहते थे किन्तु भिक्षा या जन समाज में जाते समय एक वस्त्रखण्ड हाथ पर डालकर अपनी नग्नता छिपा लेते थे और अति शीत आदि की स्थिति में उसे ओढ़ लेते थे।

यह सुनिश्चिन है कि महावीर बिना किसी पात्र के दीक्षित हुए थे। आचारांग से उपलब्ध सूचना के अनुसार पहले तो वे गृहीपात्र का उपयोग कर लेते थे, किन्तु बाद में उन्होंने इसका त्याग कर दिया और पाणिपात्र हो गये अर्थात् हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करने लगे। सचित्त जल का प्रयोग निषिद्ध होने से सम्भवतः सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ संघ में शौच के लिये जलपात्र का ग्रहण किया गया होगा, किन्तु भिक्षुओं की बढ़ती हुई संख्या और एक ही घर से प्रत्येक भिक्षु को पेट भर भोजन न मिल पाने के कारण आगे चलकर भिक्षा हेतु भी पात्र का उपयोग प्रारम्भ हो गया होगा। इसके अतिरिक्त बीमार और अति-वृद्ध भिक्षुओं की परिचर्या के लिये भी पात्र में आहार लाने और ग्रहण

करने की परम्परा प्रचलित हो गई होगी। मथुरा में ईसा की प्रथम-द्वितीय शती की एक जैन श्रमण की प्रतिमा मिली है, जो अपने हाथ में एक पात्रयुक्त झोली और दूसरे में प्रतिलेखन (रजोहरण) लिये हुए है। इस झोली का स्वरूप आज श्वे० परम्परा में, विशेष रूप से स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा में प्रचलित झोली के समान है। यद्यपि मथुरा के अंकनों में हाथ में खुला पात्र भी प्रदर्शित है। इसके अतिरिक्त मथुरा के अंकन में मुनियों एवं साध्वियों के हाथ में मुख-वस्त्रिका (मुँह-पत्ती) और प्रतिलेखन (रजोहरण) के भी अंकन उपलब्ध होते हैं। प्रतिलेखन के अंकन दिगम्बर परम्परा में प्रचलित मयूरपिच्छ और श्वे० परम्परा में प्रचलित रजोहरण दोनों ही प्रकारों में मिलते हैं। यद्यपि स्पष्ट साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव में यह कहना कठिन है कि वे प्रतिलेखन मयूर-पिच्छ के बने होते थे या अन्य किसी वस्तु के। दिगम्बर परम्परा में मान्य यापनीय ग्रंथ मूलाचार और भगवतीआराधना में प्रतिलेखन (पांडि-लेहण) और उसके गुणों का तो वर्णन है, किन्तु यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि वे किस वस्तु के बने होते थे। इस प्रकार ईसा की प्रथम शती के पूर्व उत्तरभारत के निर्ग्रन्थसंघ में वस्त्र, पात्र, झोली, मुख-वस्त्रिका और प्रतिलेखन (रजोहरण) का प्रचलन था। सामान्यतया मुनि नग्न ही रहते थे और साध्वियाँ साटिका पहनती थीं। मुनि वस्त्र का उपयोग उचित अवसर पर शीत एवं लज्जा निवारण हेतु करते थे। मुनियों द्वारा सदैव वस्त्र धारण किये रहने की परम्परा नहीं थी। इसी प्रकार इन अंकनों में मुखवस्त्रिका भी हाथ में ही प्रदर्शित है, न कि वर्तमान स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं के अनुरूप मुख पर बँधी हुई दिखाई गई है। प्राचीन स्तर के श्वे० आगम ग्रन्थ भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में मुनि के जिन १४ उपकरणों का उल्लेख मिलता है, वे सम्भवतः ईसा की दूसरी-तीसरी शती तक निश्चित हो गये थे।

यापनीय या बोटिक संघ का उद्भव :

ईसा की द्वितीय शती में महावीर के निर्वाण के छह सौ नौ वर्ष पश्चात् उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ में विभाजन की एक अन्य घटना घटित हुई, फलतः उत्तरभारत का निर्ग्रन्थसंघ सचेल एवं अचेल ऐसे

दो भागों में बँट गया। पार्श्वपत्तियों के प्रभाव से आपवादिक रूप में एवं शीतादि के निवारणार्थ गृहीत हुए वस्त्र, पात्र आदि जब मुनि की अपरिहार्य उपाधि बनने लगे, तो परिग्रह की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के प्रश्न पर आर्य कृष्ण और आर्य शिवभूति में मतभेद हो गया। आर्य कृष्ण जिनकल्प का उच्छेद बताकर गृहीत वस्त्र-पात्र को मुनिचर्या का अपरिहार्य अंग मानने लगे, जबकि आर्य शिवभूति ने इनके त्याग और जिनकल्प के आचरण पर बल दिया। उनका कहना था कि समर्थ के लिए जिनकल्प का निषेध नहीं मानना चाहिए। वस्त्र-पात्र का ग्रहण अपवाद मार्ग है, उत्सर्ग मार्ग तो अचेलता ही है। आर्य शिवभूति की उत्तर भारत की इस अचेल परम्परा को श्वेताम्बरों ने बोटिक (भ्रष्ट) कहा। किन्तु आगे चलकर यह परम्परा यापनीय के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुई। गोपाचल में विकसित होने के कारण यह गोप्यसंघ के नाम से भी जानी जाती थी। षट्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न ने गोप्य संघ या यापनीय संघ को पर्यायवाची बताया है। यापनीय संघ की विशेषता यह थी कि एक ओर यह श्वे० परम्परा के समान आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अद्ध-मागधी आगम साहित्य को मान्य करता था, जो कि उसे उत्तराधिकार में ही प्राप्त हुआ था, साथ ही वह सचेत, स्त्री और अन्यतैथिकों की मुक्ति को स्वीकार करता था। आगम साहित्य के वस्त्र-पात्र संबंधी उल्लेखों को वह साध्वियों एवं आपवादिक स्थिति में मुनियों से संबंधित मानता था। किन्तु दूसरी ओर वह दिगम्बर परम्परा के समान वस्त्र और पात्र का निषेध कर मुनि की नग्नता पर बल देता था। यापनीय मुनि नग्न रहते थे और पाणीतलभोजी (हाथ में भोजन करने वाले) होते थे। इसके आचार्यों ने उत्तराधिकार में प्राप्त आगमों की गाथाओं से शौरसेनी प्राकृत में अनेक ग्रन्थ बनाये। इनमें कषायप्राभृत, षट्-खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि प्रसिद्ध हैं।

दक्षिण भारत में अचेल निर्ग्रन्थ परम्परा का इतिहास ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शती तक अन्धकार में ही है। इस सम्बन्ध में हमें न तो विशेष साहित्यिक साक्ष्य ही मिलते हैं और न अभिलेखीय ही। यद्यपि इस काल के कुछ पूर्व के ब्राह्मी लिपि के अनेक गुफा अभिलेख तमिलनाडु में पाये जाते हैं किन्तु वे श्रमणों या निर्माता के नाम

के अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं देते। तमिलनाडु में अभिलेख युक्त जो गुफायें हैं, वे सम्भवतः निर्ग्रन्थों के समाधि मरण ग्रहण करने की स्थल रही होंगी। संगम युग के तमिल साहित्य से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जैन श्रमणों ने भी तमिल भाषा के विकास और समृद्धि में अपना योगदान दिया था। तिरुकुरळ के जैनाचार्य कृत होने की भी एक मान्यता है। ईसा की चौथी शताब्दी में तमिल देश का यह निर्ग्रन्थसंघ कर्नाटक के रास्ते उत्तर की ओर बढ़ा, उधर उत्तर का निर्ग्रन्थसंघ सचेल (श्वेताम्बर) और अचेल (यापनीय) इन दो भागों में विभक्त होकर दक्षिण में गया। सचेल श्वेताम्बर परम्परा राजस्थान, गुजरात एवं पश्चिमी महाराष्ट्र होती हुई उत्तर कर्नाटक पहुँची, तो अचेल यापनीय परम्परा बुन्देलखण्ड एवं विदिशा होकर विन्ध्य और सतपुड़ा को पार करती हुई पूर्वी महाराष्ट्र से होकर उत्तरी कर्नाटक पहुँची। ईसा की पाँचवी शती में उत्तरी कर्नाटक में भृगेश-वर्मा के जो अभिलेख मिले हैं उनसे उस काल में जैनों के पाँचों संघों के अस्तित्व की सूचना मिलती है—(१) निर्ग्रन्थसंघ, (२) मूल संघ, (३) यापनीयसंघ, (४) कूर्चकसंघ और (५) श्वेतपट महाश्रमणसंघ। इसी काल में पूर्वोत्तर भारत में वटगोहली से प्राप्त ताम्र-पत्र में पंचस्तूपान्वय के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है। इस युग का श्वेतपट महाश्रमणसंघ अनेक कुलों एवं शाखाओं में विभक्त था, जिसका सम्पूर्ण विवरण कल्पसूत्र एवं मथुरा के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

चैत्यवास और भट्टारक परम्परा का उदय :

दिगम्बर परम्परा में भट्टारक सम्प्रदाय और श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवास का विकास इसी युग अर्थात् ईसा की पाँचवी शती से प्रारम्भ होता है। यद्यपि जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा के निर्माण के पुरा-तात्त्विक प्रमाण मौर्यकाल से तो स्पष्ट रूप से मिलने लगते हैं। शक और कुषाण युग में इसमें पर्याप्त विकास हुआ, फिर भी ईसा की ५वीं शती से १२वीं शती के बीच जैन शिल्प अपने सर्वोत्तम रूप को प्राप्त होता है। यह वस्तुतः चैत्यवास की देन है (दोनों परम्पराओं में इस युग में मुनि वनों को छोड़कर चैत्यों (जिन-मन्दिरों) में रहने लगे थे। केवल इतना ही नहीं, वे इन चैत्यों की व्यवस्था भी करने लगे

थे। अभिलेखों से तो यहाँ तक सूचना मिलती है कि न केवल चैत्यों की व्यवस्था के लिए, अपितु मुनियों के आहार और तेलमर्दन आदि के लिये भी संभ्रांत वर्ग से दान प्राप्त किये जाते थे। इस प्रकार इस काल में जैन साधु मठाधीश बन गया था। फिर भी इस सुविधा-भोगी वर्ग द्वारा जैन-दर्शन, साहित्य एवं शिल्प का जो विकास इस युग में हुआ, उसकी सर्वोत्कृष्टता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। यद्यपि इस चैत्यवास में सुविधावाद के नाम पर जो शिथिलाचार विकसित हो रहा था, उसका विरोध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में हुआ। श्वेतांबर परंपरा में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र ने इसके विरोध में लेखनी चलाई। 'सम्बोधप्रकरण' में उन्होंने इन चैत्यवासियों के आगमविरुद्ध आचार की खुलकर आलोचना की, यहाँ तक कि उन्हें नर-पिशाच तक कह दिया। चैत्यवास की इसी प्रकार की आलोचना आगे चलकर जिनेश्वरसूरि, जिनचन्द्रसूरि आदि खर-तरगच्छ के आचार्यों ने भी की। ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी में खरतरगच्छ का आविर्भाव भी चैत्यवास के विरोध में हुआ था जिसका प्रारम्भिक नाम सुविहितमार्ग या संविग्नपक्ष था। दिगम्बर परम्परा में इस युग में द्रविणसंघ, माथुरसंघ, काष्ठासंघ आदि का उद्भव भी इसी काल में हुआ, जिन्हें दर्शनसार नामक ग्रन्थ में जैना-भास कहा गया है।

तन्त्र और भक्ति मार्ग का जैन धर्म पर प्रभाव :

वस्तुतः गुप्तकाल से लेकर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी तक का युग संपूर्ण भारतीय समाज के लिये चरित्रबल के ह्रास और ललित कलाओं के विकास का युग है। यही काल है जब खजुराहो और कोणार्क के मन्दिरों में कामुक अंकन किये गये। जिन-मन्दिर भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यह वही युग है जब कृष्ण के साथ राधा और गोपियों की कथा को गढ़कर धर्म के नाम पर कामुकता का प्रदर्शन किया गया। इसी काल में तन्त्र और वाममार्ग का प्रचार हुआ। जिनकी अग्नि में बौद्धभिक्षुसंघ तो पूरी तरह जल मरा किन्तु जैन-भिक्षुसंघ भी उसकी लपटों की हुलस से बच न सका। अध्यात्मवादी जैन धर्म पर भी तन्त्र का प्रभाव आया। हिन्दू परम्परा के अनेक देवी-देवताओं को प्रकारान्तर से यक्ष, यक्षी अथवा शासन देवियों के

रूप में जैन देवमंडल का सदस्य स्वीकार कर लिया गया। उनकी कृपा या उनसे लौकिक सुख-समृद्धि प्राप्त करने के लिये अनेक तान्त्रिक विधि-विधान बने। जैन तीर्थंकर तो वीतरागी था, अतः वह न तो भक्तों का कल्याण कर सकता था और न दुष्टों का विनाश, फलतः जैनों ने यक्ष-यक्षियों या शासन-देवता को भक्तों के कल्याण की जवाबदारी देकर अपने को युग-विद्या के साथ समायोजित कर लिया। इसी प्रकार भक्ति मार्ग का प्रभाव ही इस युग में जैन संघ पर पड़ा। तन्त्र और भक्तिमार्ग के संयुक्त प्रभाव से जिन मन्दिरों में यक्ष-पूजा आदि के रूप में विविध प्रकार के कर्मकांड अस्तित्व में आये। वीतराग जिन प्रतिमा की हिन्दू परम्परा की षोडशोपचार पूजा की तरह सत्रहभेदी पूजा की जाने लगी। न केवल वीतराग जिनप्रतिमा को वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित किया गया, अपितु उसे फल-नैवेद्य आदि भी अर्पित किये जाने लगे। यह विडम्बना ही थी कि हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा पद्धति के विवेकशून्य अनुकरण द्वारा तीर्थंकर या सिद्ध परमात्मा का भी आह्वान और विसर्जन किया जाने लगा। यद्यपि यह प्रभाव श्वेताम्बर परम्परा में अधिक आया था, किन्तु दिगम्बर परम्परा भी इससे बच न सकी।

विविध प्रकार के कर्मकाण्ड और मंत्र-तंत्र का प्रवेश उसमें भी हो चुका था। श्रमण परम्परा की वर्ण-मुक्त सर्वोदयी धर्म व्यवस्था का परित्याग करके उसमें शूद्र की मुक्ति के निषेध और शूद्र जल-त्याग पर बल दिया गया।

मध्ययुग में कला एवं साहित्य के क्षेत्र में जैनों का महत्वपूर्ण अवदान :

यद्यपि मध्यकाल जैनाचार की दृष्टि से शिथिलाचार एवं सुविधा-वाद का युग था, फिर भी कला और साहित्य के क्षेत्रों में जैनों ने महनीय अवदान प्रदान किया। खजुराहो, श्रवणबेलगोला, आबू (देलवाड़ा), तारंगा, राणकपुर, देवगढ़ आदि का भव्य शिल्प और स्थापत्य कला, जो ९वीं शती से १४वीं शती के बीच में निर्मित हुई, आज भी जैन समाज का मस्तक गौरव से ऊँचा कर देती है। अनेक प्रौढ़ दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों की रचनाएँ भी इन्हीं शताब्दियों में हुईं। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि,

हेमचन्द्र, मणिभद्र, मल्लिसेन और जिनप्रभ तो दिगम्बर परम्परा में विद्यानन्दी, शाकटायन, प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ विचारक भी इसी काल के हैं। मंत्र-तंत्र के साथ चिकित्सा के क्षेत्र में भी जैन आचार्य आगे आये। इस युग के भट्टारकों और जैन यतियों ने साहित्य एवं कलात्मक मन्दिरों का निर्माण तो किया ही साथ ही चिकित्सा के माध्यम से जन-सेवा के क्षेत्र में भी वे पीछे नहीं रहे।

सुधारवादी आन्दोलन एवं अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का आविर्भाव :

जैन परम्परा में एक परिवर्तन की लहर पुनः सोलहवीं शताब्दी में आयी, जब अध्यात्मप्रधान जैन धर्म का शुद्ध कर्मकाण्ड १५ घोर आडम्बर के आवरण में धूमिल हो रहा था और मुस्लिम शासकों के मूर्तिभंजक स्वरूप से मूर्तिपूजा के प्रति आस्थाएँ विचलित हो रही थीं, तभी मुस्लिमों की आडम्बररहित सहज धर्म साधना ने हिन्दुओं की भाँति जैनों को भी प्रभावित किया। हिन्दू धर्म में अनेक निर्गुण व्रतमार्गी सन्तों के आविर्भाव के समान ही जैन धर्म में भी ऐसे सन्तों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने धर्म के नाम पर कर्मकाण्ड और आडम्बरयुक्त पूजा-पद्धति का विरोध किया। फलतः जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही शाखाओं में सुधारवादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें श्वेताम्बर परम्परा में लोकाशाह और दिगम्बर परम्परा में सन्त तरणतारण तथा बनारसीदास प्रमुख थे। यद्यपि बनारसीदास जन्मना श्वेताम्बर परम्परा के थे, किन्तु उनका सुधारवादी आन्दोलन दिगम्बर परम्परा से सम्बन्धित था। लोकाशाह ने श्वेताम्बर परम्परा में मूर्तिपूजा तथा धार्मिक कर्मकाण्ड और आडम्बरों का विरोध किया। इनकी परम्परा आगे चलकर लोकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी से आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में श्वेताम्बर में स्थानकवासी परम्परा विकसित हुई, जिसका पुनः एक विभाजन १८वीं शती में शुद्ध निवृत्तमार्गी जीवनदृष्टि एवं अहिंसा की निषेधात्मक व्याख्या के आधार पर श्वेताम्बर तेरापंथ के रूप में हुआ।

दिगम्बर परम्पराओं में बनारसीदास ने भट्टारक परम्परा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की और सचित्त द्रव्यों से जिन-प्रतिमा

के पूजन का निषेध किया, किन्तु तारणस्वामी तो बनारसीदास से भी एक कदम आगे थे। उन्होंने दिगम्बर परम्परा में मूर्तिपूजा का ही निषेध कर दिया। मात्र यही नहीं, इन्होंने धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठा की। बनारसीदास की परम्परा जहाँ दिगम्बर तेरापन्थ के नाम से विकसित हुई, तो तारण स्वामी का वह आन्दोलन तारणपन्थ या समैया के नाम से पहचाना जाने लगा। तारणपन्थ के चैत्यालयों में मूर्ति के स्थान पर शास्त्रों की प्रतिष्ठा की गई। इस प्रकार सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी में जैन परम्परा में इस्लाम धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप एक नया परिवर्तन आया और अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का जन्म हुआ फिर भी पुरानी परम्पराएँ यथावत् रूप से चलती रहीं। पुनः बीसवीं शती में जहाँ गाँधी जी के गुरुतुल्य श्रीमद्राजचन्द्र के कारण अध्यात्मप्रेमियों का एक नया संघ बना। यद्यपि सदस्य संख्या की दृष्टि से चाहे यह संघ प्रभावशाली न हो, किन्तु उनकी अध्यात्मनिष्ठा आज इसकी एक अलग पहचान बनाती है। इसी प्रकार श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में दीक्षित कानजी स्वामी ने महान अध्यात्मवादी दिगम्बर संत कुन्दकुन्द के समयसार जैसे अध्यात्म और निश्चय नय प्रधान ग्रन्थ के अध्ययन से दिगम्बर परम्परा में इस शताब्दी में एक नये आंदोलन को जन्म दिया।

इस प्रकार जैन धर्म में भी युग-युग में देश और काल के प्रभाव से अनेक परिवर्तन होते रहे हैं, जिनकी संक्षिप्त झाँकी इस आलेख में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

विदेशयात्रा और वाहन-प्रयोग का प्रश्न

आज पुनः जैनधर्म के आचार-विचार को लेकर परिवर्तन की बात कही जाती है। यह सत्य है कि युगीनपरिस्थितियों के बदलने पर किसी भी जीवित धर्म के लिए यह आवश्यक होता है कि वह युगानुरूप अपनी जीवन-शैली में परिवर्तन करे। आज विज्ञान और तकनीकी का युग है। प्रगति के कारण आज देशों के बीच दूरियाँ सिमट गयीं। आज जैन परिवार भी विश्व के प्रत्येक कोने में पहुँच चुके हैं। अतः उनके संस्कारों को जीवित रखने और विश्व में जैनधर्म की अस्मिता को स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि जैन श्रमण वर्ग विश्व के देशों की यात्रा कर जैनधर्म का प्रसार करें,

किन्तु इस हेतु आचार-नियमों में कुछ परिवर्तन तो लाना ही होगा। धर्म प्रसार के लिए जैन श्रमण देश-विदेश की यात्राएँ प्राचीनकाल से ही करते रहे। महावीर के युग में जैन मुनियों ने यात्रा में बाधक नदियों को नावों से पार करके अपनी यात्राएँ की थीं। मात्र नदियों को पार करके ही नहीं महासागर को जहाजों से पार करके भी जैन मुनियों ने लंका और सुवर्णद्वीप तक की यात्राएँ की थीं, ऐसे ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। अतः आज यदि विदेशों में जैनधर्म के प्रसार के लिए कोई जैन मुनि वायुयान से यात्रा कर लेता है तो वह कोई बहुत बड़ा अपराध करता है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु जहाँ पाद विहार की सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वहाँ भी वाहन प्रयोग तो उचित नहीं माना जा सकता। पुनः हमें यह भी विचार करना होगा वह विदेश यात्रा जैनधर्म की गरिमा को स्थापित करती है या उसे खण्डित करती है। विदेशों में जैन मुनि जैनधर्म का गौरव तभी स्थापित कर सकता है जब उसकी अपनी जीवनचर्या कठोर एवं संयमपरक हो। हमें इस तथ्य को स्मरण रखना है कि जैन श्रमणों की सुविधावादी प्रवृत्ति जैनधर्म के लिए भी उतनी खतरनाक सिद्ध होगी, जैसी कभी बौद्ध धर्म के लिए हुई थी, कि वह अपनी मातृभूमि में ही अपना अस्तित्व खो बैठी। विदेश यात्रा कोई बड़ा अपराध नहीं। अपराध है जैन श्रमणों की बढ़ती हुई सुविधावादी प्रवृत्ति। आज का जैन श्रमण इतना सुविधावादी और भोगवादी होता जा रहा है कि एक सामान्य जैन गृहस्थ की अपेक्षा भी उसका खान-पान और सम्पूर्ण जीवन शैली अधिक सुविधासम्पन्न बन रही है। एक श्रमण के लिए वर्ष में होने वाला खर्च सामान्य गृहस्थ से कई गुना अधिक होता है।

आज के जैन श्रमण की जीवन शैली इतनी सुविधाभोगी हो गई है कि वह जन-सामान्य की अपेक्षा सम्पन्न श्रेष्ठिवर्ग के आसपास केन्द्रित हो रहा है और उनकी जीवन शैली उसे और अधिक सुविधा-भोगी बना रही है—यदि वाहन प्रयोग सामान्य हो गया तो जैन श्रमण जन-साधारण और ग्रामीण जैन परिवार से बिलकुल कट जायेगा। वाहन सुविधा और विदेश यात्रा को युग की आवश्यकता मानकर भी उस सम्बन्ध में कुछ मर्यादाएँ निश्चित करना होंगी।

१—चरित्रवान् और विद्वान् श्रमण या श्रमणी ही आचार्य और संघ

की अनुमति से विदेश भेजे जायें । यह निर्णय पूर्णतः आचार्य और संघ की सर्वोच्च समिति के आधीन हो कि किस श्रमण या श्रमणी को विदेश भेजा जाये ।

२—जिस श्रमण या श्रमणी को विदेश यात्रा के लिए भेजा जाये उसे उस देश की भाषा और जैनशास्त्र तथा दर्शन का गम्भीर अध्ययन हो और उनके ज्ञान का प्रमाणीकरण और उनकी जैनधर्म के प्रति निष्ठा का सम्यक् मूल्यांकन हो ।

३—विदेश यात्रा धर्म संस्कार जागृत करने के लिए हो न कि घूमने-फिरने के लिए । अतः प्रथमतः उन्हीं क्षेत्रों में यात्रा की अनुमति हो; जहाँ जैन परिवारों के निवास हों और उस क्षेत्र में वे अपने परम्परागत नियमों का उसी प्रकार पालन करें ।

४—अपरिपक्ववय और अपरिपक्व विचारों के श्रमण-श्रमणियों को किसी भी परिस्थिति में विदेश यात्रा की अनुमति न दी जाये ।

५—जिस प्रकार प्राचीनकाल में बड़ी नदियों को नौका से पार करने की वर्ष में संख्या निर्धारित होती थी, उसी प्रकार वर्ष में एक-या दो से अधिक यात्राओं की अनुमति न हो । जिस क्षेत्र में वे जायें, वहाँ रुककर संस्कार जागरण का कार्य करें, न कि श्रमण-सुख के लिए यात्राएँ करते रहें ।

६—वाहन यात्रा को अपवाद् मार्ग ही माना जाये और उसके लिए समुचित प्रायश्चित्त की व्यवस्था हो ।

७—देश में भी आपवादिक परिस्थितियों में अथवा किसी सुदूर प्रदेश की यात्रा ज्ञान-साधना अथवा धर्म के प्रसार के लिए आवश्यक होने पर ही वाहन द्वारा यात्रा की अनुमति दी जाये । बिना अनुमति के वाहन प्रयोग सर्वथा निषिद्ध ही मानी जाये ।

इस प्रकार विशिष्ट नियंत्रणों के साथ ही वाहन प्रयोग और विदेश यात्रा की अनुमति अपवाद् मार्ग के रूप में ही मानी जा सकती है । उसे सामान्य नियम कभी भी नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि भूतकाल में भी वह एक अपवाद मार्ग ही था । इस प्रकार आचार मार्ग में युगानुरूप परिवर्तन तो किये जा सकते हैं परन्तु उनकी अपनी उपयोगिता होनी चाहिए और उनसे जैन धर्म के शाश्वत मूल्यों कोई खरोच नहीं आनी चाहिए ।

—निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान भाराणसी

सत् का स्वरूप

अनेकान्तवाद और व्यवहारवाद की दृष्टि में

—डा० राजेन्द्र कुमार सिंह

‘सत्’ का स्वरूप क्या है. यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके समाधान हेतु मानव समाज आदिकाल से ही लगा हुआ है। क्या इस विश्व का स्वतंत्र अस्तित्व है या यह सृष्टि का परिणाम है? क्या इस विश्व का पदार्पण एकाएक हुआ है या धीरे धीरे? क्या इस विश्व में जड़तत्त्व प्रधान है या चेतन तत्त्व या दोनों? क्या यह विश्व अनन्त है या सान्त आदि ऐसे अनेकों प्रश्न सत्ता के सम्बन्ध में होते रहे हैं जिनके समाधान का प्रयास दार्शनिकों द्वारा प्रत्येक युग में होता आया है।¹

‘सत्’ से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान भारतीय एवं पाश्चात्य अनेकों विद्वानों ने विभिन्न रूपों में करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम जैन-दार्शनिकों की अनेकान्तवादी दृष्टि एवं पाश्चात्य दर्शन की व्यावहारिकतावादी दृष्टि पर एक तुलनात्मक विचार करेंगे तथा देखेंगे कि दोनों के विचारों में कितनी समानता है। यह ठीक है कि जैन विचारक मुख्यतः वस्तुवादी हैं और अधिकांश व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त को मानते हैं और इस दृष्टि से उनके तान्त्रिक विचारों में कुछ भेद भी है, परन्तु जहाँ तक ‘सत्’ के वास्तविक स्वरूप का प्रश्न है, दोनों के सिद्धान्तों में हम अधिक समता देखते हैं। ‘अनन्त धर्मकं वस्तु’ दोनों का मूल सिद्धान्त है। अर्थात् जिस दृष्टि से जैन-दार्शनिकों ने सत् को पहचानने का प्रयास किया है, पाश्चात्य व्यावहारिकतावादी विचारकों का भी प्रयास बहुत कुछ उसी रूप में हुआ है।

जैन-दर्शन में ‘सत्’ के लिए तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ आदि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। तत्त्व-सामान्य के लिए इन

१. एच० एस० भट्टाचार्य ‘अनेकान्तवाद’ (जैन संस्थान साहित्य प्रकाशन समिति, भावनगर, १९५३) पृष्ठ १०।

सभी शब्दों का उल्लेख एक ही अर्थ में हुआ है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय सम्प्रदायों में भी इन शब्दों का उल्लेख भिन्न-भिन्न रूपों में हमें मिलते हैं, जैसे—बैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, आदि सात पदार्थ, न्याय दर्शन में प्रमाणादि सोलह पदार्थ, सांख्य-दर्शन में पुरुष-प्रकृति आदि।

[२]

जैन-दार्शनिक प्रत्येक 'द्रव्य' या 'सत्' को अनन्त धर्मों का मौलिक पिण्ड मानते हैं। अर्थात् सत् का स्वरूप बहुतत्त्ववादी है। [परन्तु इस अनन्त धर्मों वाली वस्तु का ज्ञान विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न रूपों में एकांगी रूप में होता है। वे सभी 'सत्' को केवल एक दृष्टि से देखते हैं।] जैसे भगवान् बुद्ध ने सत् को अनात्मवादके आधार पर जानने का प्रयास किया और उसे क्षणिक या शून्य माना। इससे भिन्न दृष्टि वाले शंकराचार्य ने वेदों और उपनिषदों के आधार पर 'सत्' को समझने का प्रयास किया और उसे अद्वैत घोषित किया। परन्तु जैन-दर्शन के अनुसार ये सभी सिद्धान्त 'सत्' को केवल एक दृष्टि से देखने के कारण एकांगी हैं। 'सत्' तो अपने आप में अनन्त धर्मों को लिये हुए है^२। मानव का सत् सम्बन्धी ज्ञान आंशिक होता है जिसे जैन-दार्शनिक 'नय' की संज्ञा देते हैं। अर्थात् नयों द्वारा मानव सत् के एक-एक अंश को ही जान पाता है। मानव की दृष्टि परिमित और सीमित होती है। वह कचित् वस्तु को देख या जान पाता है। वस्तु का सर्वांग ज्ञान उसे युगपत् नहीं होता है। फलस्वरूप मानव का प्रत्येक कथन सीमित दृष्टि/सापेक्ष है। अतः कोई निर्णय निरपेक्ष सत्य नहीं है।^३

१. टाटिया नथमल :—'अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी,' आचार्यभिक्षु-स्मृति ग्रन्थ, (श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६१) में प्रकाशित।
२. दास गुप्त एस० एन० 'भारतीयदर्शन', भाग-१ (केम्ब्रीज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६३), पृष्ठ १७६
३. टाटिया नथमल : 'स्टडीज इन जैन फिलॉसफी', (जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी, बनारस, १९५१), पृष्ठ २२

जैन-दार्शनिक 'द्रव्य' या सत् पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का त्रिलक्षण मानते हैं। (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तम्)^१ प्रत्येक द्रव्य चाहे वह चेतन हो या अचेतन, त्रिलक्षण युक्त परिणामी है। उत्पाद और व्यय को 'पर्याय' और ध्रौव्य को 'गुण' कहा है। गुण नित्यता का सूचक है और पर्याय परिवर्तन का। जैन-दार्शनिक वस्तु में उत्पाद और व्यय अवश्य मानते हैं, परन्तु उनके अनुसार मूल वस्तु का उत्पाद और व्यय नहीं होता है, प्रत्युत वस्तु के पर्यायों का उत्पाद और व्यय है। अर्थात् जैन दार्शनिकों के अनुसार देश और काल सत् की व्याख्या में भेद अवश्य लाते हैं, पर उमके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं लाते। सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नहीं होता।

जैन दार्शनिक सत्कार्यवाद के समर्थक होने के कारण यह मानते हैं कि कार्य पर्यायों का एक नवीन रूप है, वस्तु का स्वभाव नहीं। दूसरे शब्दों में वस्तु का वास्तविक जातीय गुण नहीं बदलता, केवल उसके रूप या पर्याय ही बदलते हैं। जैन-दर्शनिकों का स्पष्ट मत है कि जिस वस्तु का भाव है उसका निरपेक्ष रूप से अभाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसका अभाव है, वह अस्तित्व में भी नहीं आ सकता। अर्थात् ये निरपेक्ष रूप से कभी नहीं पाये जाते। वस्तु सापेक्ष है। एक विशिष्ट दृष्टिकोण की अपेक्षा सभी विद्यमान हैं, किन्तु दूसरे दृष्टिकोण की अपेक्षा कोई वस्तु विद्यमान नहीं है।

इस प्रकार सत् अपने आप में पूर्ण है। उसे एकान्तिक रूप से न तो पूर्ण और न तो आंशिक कहा जा सकता है। वह तो इन दोनों का सम्मिलित रूप है।^२

प्रत्येक व्यक्ति को 'सत्' का पूर्णरूपेण त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन हो सके, यह संभव नहीं है। उसका त्रिकालाबाधित पूर्ण रूपेण साक्षात्कार पूर्णपुरुष ही कर सकते हैं। परन्तु वे भी उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। यही कारण है कि देश, काल, परिस्थिति, भाषा एवं शैली आदि की विविधता के कारण पूर्ण पुरुषों के कथन में भी शाब्दिक

१. तत्त्वार्थ-सूत्र-५।२९

२. मुखर्जी सत्कारी 'जैन फिलासफी ऑफ वन-एक्सोलूटिज्म', (भारतीय महाविद्यालय, कलकत्ता, १९४४), पृष्ठ १३

भेद दिखाई दे सकता है। जैसे—भगवान् महावीर एक स्थान पर कहते हैं—‘एगे आया’, अर्थात् आत्मा एक है। पुनः अपने उपदेश के दूसरे क्रम में कहते हैं—‘अनेगे आया’, अर्थात् आत्मा अनेक है। शाब्दिक दृष्टि से दोनों कथनों में अन्तर दिखाई देता है, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई विरोध नहीं है। यथार्थता की दृष्टि से देखने पर आत्मा में एकत्व और अनेकत्व दोनों वर्तमान हैं। भगवतीसूत्र^१ में हमें इस तरह के कई उल्लेख मिलते हैं।

इस प्रकार जैन-दार्शनिक एक ही वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से नित्य और अनित्य, एक और अनेक, अस्तित्ववान् और अनस्तित्ववान् दोनों ही मानते हैं। मानव का वस्तु सम्बन्धी ज्ञान अपेक्षात्मक (रिलेटिव) होता है। जैन दार्शनिक इसकी व्याख्या कई अन्धे व्यक्तियों द्वारा एक ही हाथी के सम्बन्ध में विभिन्न दिये गये आंशिक ज्ञान से करते हैं। अर्थात् कोई व्यक्ति हाथी के कान को पकड़कर उसे सूप के आकार के समान मानना है तो कोई उसके पूंछ को पकड़कर रस्सी के समान। इसी प्रकार कोई उसके पैर को देखकर खम्भे के समान मानते हैं तो कोई बदन को देखकर दीवाल के समान आदि। परन्तु इन सभी अंधे व्यक्तियों द्वारा हाथी के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये ज्ञान को आंशिक रूप से ही सत्य कहा जा सकता है। हाथी तो अपने आप में इन सभी अंगों से युक्त पूर्ण रूप से सत्य है। इस प्रकार वस्तु का ज्ञान अपेक्षात्मक रूप से होने के कारण वह ‘स्यात्’ या ‘कथंचित्’ रूप से ही सत्य या असत्य होता है। अतः हमें प्रत्येक कथन के पूर्व ‘स्यात्’ शब्द लगाना चाहिए। किसी वस्तु के किसी विशेष गुण को व्यक्त करने को ‘नय’ कहा जाता है। अर्थात् ‘नय’ वस्तु का आंशिक ज्ञान है। हम विभिन्न ‘नयों’ द्वारा ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसके पूर्ण रूप में कदापि नहीं।

[३]

पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद मूलतः एक ज्ञान मीमांसीय सिद्धान्त है। अतः जैन-दर्शन की तरह उसमें सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में अलग से व्याख्या नहीं पाते हैं। फिर भी ज्ञान मीमांसीय सिद्धान्त की व्याख्या के

१. भगवतीसूत्र—१।४।४२, ७।३।२७९, आदि।

संदर्भ में ही 'सत्' की व्याख्या परोक्ष रूप से हम अवश्य पाते हैं। जैसा कि जैन-दार्शनिक 'सत्' को अनुभवगम्य मानते हैं, व्यावहारिकतावादी दार्शनिक भी अपनी वस्तुवादी धारणा के अनुकूल इससे पूर्णतया सहमत हैं। वे इन्द्रियानुभव से प्राप्त ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं और इस प्रकार अनुभव में आने वाली वस्तुओं को सत् समझते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि यह विषयगत संसार अनेकात्मक है और यहां की प्रत्येक वस्तु अनेक समान तथा असमान घर्मों से युक्त है। व्यावहारिकतावादी दार्शनिक जेम्स प्रत्यक्षानुभूति को ज्ञान का सबसे सरल और निश्चित साधन मानते हैं। साक्षात् वस्तु के सम्बन्ध में वही विचार या प्रत्यक्ष जो उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान देता है, सर्वोत्तम प्रत्यय माना जाता है।^१ क्योंकि यहां किसी प्रकार विरोध का स्थान नहीं रहता और हमारे अनुभव तथा अनुभूत वस्तु इन दोनों में पूर्ण तादात्म्य हो जाता है।

अतः जेम्स जैनों के समान यह स्वीकार करते हैं कि सत् का ज्ञान दृष्टिकोण भेद पर निर्भर करता है। किसी वस्तु को हम जिस दृष्टि से देखते हैं या उसका प्रत्यक्ष बोध जिस रूप में होता है, उसे ही सत् का यथार्थ स्वरूप हमें मानना चाहिए।^२ जेम्स कहते हैं—'अनेकों परिचित वस्तुओं में प्रत्येक व्यक्ति माननीय तत्त्व को पहचान लेगा। हमारे प्रयोजन के अनुसार हम किसी प्रदत्त सत् को एक या दूसरे तरीके से सोच सकते और वह सत् अपने आपको हमारी संकल्पना के अनुरूप ढाल देता है।'^३

१. विलियम जेम्स, 'द मिनिंग ऑफ ट्रूथ' (न्यूयार्क, १९२७, पृष्ठ ४१)

२. 'सामान्यतः सत् वह है जिसकी सत्य ज्ञान उपेक्षा नहीं कर सकता और इस दृष्टिकोण के अनुसार सत् का प्रथम भाग हमारे संवेदनों का सतत प्रवाह है। वे एक तरह से हमारे ऊपर जबर्दस्ती थोपे जाते हैं, हम यह भी नहीं जानते कि वे कहाँ से आते हैं (अर्थात् उनके उद्भव स्थल कहाँ हैं), उनके स्वरूप क्रम और संख्या पर हमारा नियंत्रण नहीं के बराबर होता है।

—विलियम जेम्स, 'प्रयोजनवाद', अनु० (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, १९७२)। पृष्ठ १४१।

३. वही, पृष्ठ १४४

इस प्रकार जेम्स जैनों की यह युक्ति 'अनन्तधर्मकम् वस्तु' को चरितार्थ करते हैं। वे इसमें तनिक भी संदेह नहीं करते कि एक ही वस्तु कैसे विभिन्न 'धर्मों' से युक्त हो सकती है। वे जैनों की तरह अपनी अनेकतत्त्व-वस्तुवादी (रीयलिस्ट प्लुरिज्म) धारणा के अनुसार उसे अनुभवपरक मानते हैं।

पुनः जैन-दार्शनिकों के स्याद्वादी धारणा के अनुकूल जेम्स यह स्वीकार करते हैं कि एक ही सत्ता के सम्बन्ध में अनेक विचार हो सकते हैं, यद्यपि ये विचार दूसरे से भिन्न और विरोधी दीख पड़ते हैं। इस दृष्टि से दत्त विषय एक ऐसी सदिग्ध और अस्पष्ट पूर्ण वस्तु होती है जिसे हम अपनी इच्छि, परियोजन और इच्छा के अनुकूल अनेकों रूपों में व्यक्त कर सकते हैं। अतः जेम्स के अनुसार सत् पहले भी से रचित नहीं होता, बल्कि उसका सृजन स्वयं व्यक्ति अपनी इच्छानुसार करता है जो उसके दृष्टिभेद पर निर्भर करता है।^१

व्यावहारिकतावादी डि-यूई भी यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति की इन्द्रियानुभूति में जो वस्तु प्रत्यक्ष दीख पड़ती है अर्थात् जितने सारे दत्त-विषय हैं, उन्हें सत् की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसे सत् के गुण उसके वास्तविक रूप आदि हमारी इन्द्रियानुभूति में तत्क्षण दीख पड़ते हैं जब हम उनके सम्पर्क में आते हैं। जैन-चिंतकों के समान डि-यूई यह मानते हैं कि सत् अनेक विशेषताओं या धर्मों की भू-समष्टि है, जो प्रायः परिवर्तनशील होता है।^२

डि-यूई जैनों के सत् सम्बन्धी त्रिलक्षण (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) से सहमत हैं। इस दृष्टि से डि-यूई उसे घटना (इवेंट्स) के नाम से पुकारते हैं, जो परम्परावादी द्रव्य की कल्पना से भिन्न नहीं कही जा सकती है। अतः कोई भी वस्तु या तो साधारण टेबुल, कुर्सी, पुस्तक या ऐसे कोई भी स्थूल पदार्थ हो, छोटे या विराट् रूप में सभी

१. दत्त डी० एम० 'चीफ करेन्ट्स आफ कन्टेम्पोररी फिलासफी', कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६१, पृष्ठ २२५

२. जान डि-यूई 'एक्सपेरिएन्स एण्ड नेचर', (ओपेनकोर्ट, शिकागो, १९२९) पृष्ठ ३१८

अर्थपूर्ण घटनायें हैं, अर्थात् वे कुछ विशेष गुण या धर्मों के संग्रह हैं और व्यक्ति, वास्तव में उन्हें इन्हीं धर्मों के रूप में जानता है।^१

शीलर भी सत् की व्याख्या मानवतावादी रूप में करते हैं, जो करीब-करीब जेम्स के व्यावहारिकतावाद की विस्तृत व्याख्या मानी जा सकती है। सत् हमारी संवेदना का विषय होता है और वह हमारे मन तथा बुद्धि से संबद्ध रहकर ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करता है। शीलर यह स्वीकर करते हैं कि सत् का ज्ञान अपनी दृष्टि-भेद पर निर्भर करता है। किसी वस्तु विशेष को हम जिस दृष्टि से देखते हैं या उसका प्रत्यक्ष बोध हमें होता है, वही सत् का यथार्थ स्वरूप हमें मानना चाहिए। अतः ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सत् का सृजन स्वयं व्यक्ति अपनी रुचि और इच्छा से करता है। शीलर का कहना है—यह विश्व आवश्यक रूप से पदार्थमय है……, यह वैसा ही देखा जाता है, जैसा हम इसकी रचना करते हैं। इसकी परिभाषा इसके आरम्भिक रूप में देना, या यह हमसे अलग होकर जो है, उसके द्वारा देना निरर्थक है, वह वैसा ही है जैसा इसे हम बनाते हैं।^२

इस प्रकार शीलर का कहना है कि सत् का निर्माता व्यक्ति स्वयं है। सत् जो प्रत्ययवादियों के लिए सनातन, पूर्ण-रचित और पूर्ण है, वह व्यावहारिकतावादियों के अनुसार अभी भी सृजन के ही प्रवृत्ति में है और अपने स्वरूप के कुछ भाग की प्रत्याशा इसे भविष्य से है अर्थात् भविष्य में भी इसमें सृजन की संभावना है।^३ शीलर ने अपने इस विचार को वैयक्तिक प्रत्ययवाद (पर्सनल आइडियलिज्म) कहा है, जो निरपेक्ष प्रत्ययवाद या उग्र वस्तुवादी

१. वही, पृष्ठ ३२०

२. एफ० सी० एच० शीलर—‘स्टडीज इन हि्यूमेनिज्म’ (ग्रीनयुड, १९२२), पृष्ठ ४८३

३. ‘पर्सनल आइडियलिज्म’ (आठ दार्शनिकों की सम्मिलित पुस्तक) पृष्ठ ९०

४. आई० एम० वोचेन्सकी—‘कम्प्योररी यूरोपियन फिलासफी, अनु० डी० निकोलेन एण्ड अदर्स’, (यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफ़ोर्निया, लन्दन, १९५७), पृष्ठ ११४

विचार से भिन्न है। किन्तु इसे वृहद् अर्थ में सामान्य बुद्धि वस्तुवाद या अनुभववादी विचार कहना यथोचित जान पड़ता है, क्योंकि यह व्यावहारिकतावादी धारणा के विपरीत नहीं दीखता। यह संसार को सार्थक सिद्ध करने के उद्देश्य से जैन-दार्शनिकों की तरह मानवबुद्धि की सृजनारम्भक क्षमता और प्रयोजनवादी क्रिया-शीलता को विशेष महत्त्व देता है, जैसा कि जैन-दार्शनिक भी यह विश्वास करते हैं कि मानव बुद्धि निरन्तर परिवर्तनशील है और उसमें विकास की क्षमता भी है, इसके अतिरिक्त सत् के सम्बन्ध में जो हमारी कोई विशेष धारणा है, दूसरी दृष्टि से देखने पर उसमें और भी परिवर्तन होते हैं। इस तरह सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान शनैः शनैः और भी विकसित होता जाता है।

[४]

इस प्रकार सत् के सम्बन्ध में जैन-दार्शनिकों की अनेकान्तवादी-दृष्टि और पाश्चात्य व्यावहारिकता में हम समता देखते हैं। कहने का तात्पर्य है कि सत् के सम्बन्ध में दोनों के विचारों में हम अधिक समता पाते हैं। वस्तुओं को दोनों ही ज्ञेय मानते हैं और दोनों ही अपनी रुचि और प्रयोजन के अनुसार उन्हें देखते हैं और उनका अर्थ निरूपण करते हैं। अर्थात् अनेकान्तवादी या स्याद्वादी दृष्टिकोण के आधार पर ही उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय या विचार किया जा सकता है। वह किसी विशेष देश और काल से सीमित रहता है, उसकी सत्यता सापेक्ष और संभाव्य होती है।

इन बातों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार जैन दार्शनिकों की धारणा सत्य के सम्बन्ध में है, अर्थात् सभी ज्ञान सापेक्ष होते हैं, व्यावहारिकतावादी भी इसमें पूर्णतया सहमत हैं। ऐसे सत्य ज्ञान को वे व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी, किसी कार्य सम्पादन के लिए यंत्र, नैतिकता की दृष्टि से शुभ और उन्नत ऐसे कई रूपों में व्यक्त करते हैं। प्रत्येक ऐसे विचार के पीछे यही एक मात्र उद्देश्य निहित है कि हमारा ज्ञान, जो विशेष दृष्टि से उपेक्षित रहता है और जिसकी सत्यता उसी दृष्टि पर आश्रित है, वह उस प्रसंग में अवश्य सत्य होगा।

संक्षेप में जैन-दार्शनिकों के अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद इन दोनों का उद्देश्य मुख्यतः सत्य के सम्बन्ध में यथार्थ

ज्ञान प्राप्त कर अपने व्यावहारिक जीवन में सुधार और परिवर्तन लाना और उसके अनुकूल कार्य करना है। अतः व्यावहारिकतावादी दृष्टि और अनेकान्तवाद, जहाँ तक मानवता के उत्थान का प्रश्न है, एक दूसरे से सहमत हैं। दोनों में मोटे रूप से अन्तर जो हमें दीख पड़ता है वह यह कि व्यावहारिकतावादियों का बल विशेष रूप से मनुष्य के क्रिया-कलाओं पर है और वही सत्य के निर्णायक भी माने जाते हैं, क्योंकि जिस कार्य सम्पादन से सफलता मिलती है वही सत्य का परिचायक है। किन्तु जैन-दर्शन में सत् के स्वरूप की परख के पश्चात् ही किसी कर्म के सम्पादन की बात उठती है, जैसा कि हम नय की व्याख्या के प्रसंग में देखते हैं। सत् अनन्त धर्मात्मक है, इसीलिए उसे किसी विशेष दृष्टि से ही हम देख सकते हैं और ऐसी नय-दृष्टि के आधार पर जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसे विशेष की अपेक्षा से सत्य मानते हैं।



प्रोफेसर, दर्शन विभाग
जगजीवन कालेज, गया (बिहार)

भारतीय राजनीति में जैन संस्कृति का योगदान

—इन्द्रेश चन्द्र सिंह

प्राचीन भारतीय संस्कृतियों में जैन संस्कृति का एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान है। इसने जनमानस में आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का बीजारोपण किया है। अन्तरमलों का परिशोधन ही जैन संस्कृति की साधना तथा आत्मपूर्णता और आत्म स्वातन्त्र्य ही इसका चरमलक्ष्य है। यह जीवन को परिष्कृत और परिमार्जित करने के लिए भोग से त्याग की ओर, राग से विराग की ओर, विकार से संस्कार की ओर आगे बढ़ने की सतत् प्रेरणा देती है।

जैन संस्कृति (साधना) का साध्य मोक्ष रहा है अतः उसकी प्रत्येक प्रवृत्तियों में त्याग और वैराग्य की प्रधानता होना स्वाभाविक है। उसमें मुक्ति की प्राप्ति के लिए निवृत्ति आवश्यक है। प्रवृत्ति का कार्य आस्रव एवं निवृत्ति का कार्य संवर है। आस्रव संसार की अभिवृद्धि का कारण है और संवर मोक्ष का। यही कारण है कि जैन संस्कृति ने प्रवृत्ति के परित्याग और निवृत्ति को ग्रहण करने का संदेश दिया। जैन संस्कृति के आचार्य अध्यात्म के प्रोत्साहक रहे हैं। आध्यात्मिक विषयों पर जितना उन्होंने लिखा है शायद अन्य दार्शनिकों ने नहीं। उनके द्वारा लिखे गये गंभीर व तलस्पर्शी विवेचनों को पढ़कर प्रतिभा-युक्त विज्ञानों के हृद-तंत्री के सुकुमार तार सहज ही झंकृत हो उठते हैं।

अध्यात्म के गंभीर विवेचन के साथ ही जैन संस्कृति के सन्तों ने समाज और राजनैतिक विषयों पर भी लेखनी चलाई है। आचार्य श्री हेमचन्द्र की 'अहंन्नीति' और आचार्य श्री सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' में समाज-व्यवस्था पर विशद् विवेचन है। यह ठीक है कि मुनि-मर्यादाओं में आबद्ध होने के कारण उन्होंने 'मनुस्मृति' आदि की तरह

प्रवृत्ति मार्ग का स्पष्ट विधान नहीं किया है, यथापि जो उल्लेख किये हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं ।

जैन संस्कृति का मूल स्रोत उस काल तक जाता है, जिसे हम प्रागैतिहासिक काल के नाम से जानते हैं, तथापि आगम साहित्य के आलोक में और पौराणिक उद्धरणों के आधार से उस पर चिन्तन किया जा सकता है ।

संस्कृति के उषाकाल से ही राजनीति का सम्बन्ध जन-जीवन से रहा है । प्रस्तुत अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे के अवसान काल में जब धीरे-धीरे यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी, जनसंख्या की वृद्धि होने लगी और कल्पवृक्षों से आवश्यकताओं की पूर्ति न होने लगी तब मानव समाज में परस्पर संघर्ष होने लगा । लूट, खसोट तथा संग्रह की हीन मनोवृत्तियाँ पनपने लगीं। उन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण हेतु ही कुल-व्यवस्था का विकास हुआ । कुलों की सुव्यवस्था करने वाले को 'कुल-कर' की संज्ञा प्रदान की गयी ।^१

स्थानांग^२, समवायांग^३ और आवश्यकनिर्युक्ति^४ के अनुसार—
१-विमलवाहन, २-चक्षुष्मान, ३-यशस्वी, ४- अभिचन्द्र, ५-प्रसेन जित्, ६-मरुदेव, और ७-नाभि ये सात कुलकर हुए और उनके शासनकाल में हाकार, माकार और धिक्कार इन तीन दण्ड-नीतियों का प्रवर्तन हुआ ।^५

प्रथम और द्वितीय कुलकर के समय हाकारनीति चली^६ अर्थात्—
हा ! तूने यह क्या किया ? तृतीय और चतुर्थ कुलकर के समय हाकार

१. स्थानांगसूत्र वृत्ति सू० ७६७ पत्र ५२८

२. वही ,, ,, ७६७ पत्र ५१८

३. समवायांगसूत्र-१५७

४. पढमेत्थ विमलवाहण, चक्खुम जसमं चउत्थमभिचंदे ।

तत्तो य पसेणइए, मरुदेवे चेव नाभी य ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-१५२

५. हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव दंडनीतिओ ।

वोच्छं तासि विसेसं, जहक्कयं आनुपुब्बीए ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-१६४

६. "ह" इत्याधिक्षेपाथस्तस्य करणं हकारः

—स्थानांगसूत्रवृत्ति पृ० ३९९

नीति के असफल होने पर माकार नीति चली,^१ अर्थात् यह मत करो ऐसी निषेधाज्ञा का प्रवर्तन हुआ। पाँचवें, छठें और सातवें कुलकर के समय माकार नीति के असफल होने पर, धिक्कार नीति का प्रादुर्भाव हुआ।^२ अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र श्री ऋषभदेव हुए।^३ ये प्रथम वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री थे। उन्होंने समाज की रचना की। खाद्य समस्या का कृषि द्वारा समाधान किया, कलाओं का प्रवर्तन किया। यौगलिकों की प्रार्थना से नाभि ने राष्ट्र की सुव्यवस्था हेतु श्री ऋषभदेव को 'राजा' घोषित किया। ये सर्वप्रथम राजा हुए^४ और शेष जनता प्रजा हुई। उन्होंने राज्य की सुरक्षा के लिए मंत्रिमण्डल बनाया। नागरिक जीवन की व्यवस्था के लिए आरक्षक दल की स्थापना की।^५ राज्यशक्ति की अभिवृद्धि एवं संरक्षणार्थ चतुरंग सेना व सेनापतियों की व्यवस्था की।^६ साम, दाम, दण्ड और भेदनीति का प्रचलन किया।^७ परिमाण (कुछ समय के लिए आक्रोशपूर्ण शब्दों

१. स्थानाङ्गसूत्रवृत्ति-पृ० ३९९।

२. वही

३. नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेभ्यां महाछतिः।

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥

—वायुमहापुराण-पूर्वार्ध ५०, अ. ३३

४. उसयेइ वा पढम राया।—कल्पसूत्र सू० १९४, पृ० ५७

तथा देखिए ॐ कार इव मंत्राणां, नृपाणां प्रथमो नृपः।

अपत्यानि निजानीव, पालयामास स प्रजाः ॥

—त्रिषष्ठिशलाकापुरुष १।२।९२५

५. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १९८

६. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र १।२।९२५-९३२

७. स्वामी सामदामभेददण्डोपायचतुष्टयम्।

जगद्व्यवस्थानगरीचतुष्पथमकल्पयत् ॥

—त्रिषष्ठिशलाकापुरुष १।२।९५९

तथा देखिए—णीतिओ—उसभसामिम्मि चेव उप्पन्नाओ।

—आवश्यकचूर्णि, पृ० १५६

से अपराधी व्यक्ति को दण्डित करना) और मंडल-बंध (सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना) ये दो दण्ड नीतियाँ प्रारम्भ कीं ।^१

इस प्रकार ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था के लिए तथा प्रजा के हित के लिए जिन नियमोपनियमों की आवश्यकता थी, उन सबका निर्माण कर राज्य का संचालन किया ।^२ उनके राज्य में प्रजा अत्यंत सुखी थी ।^३ इस प्रकार जैन संस्कृति में शासनतंत्र और राजनीति का प्रादुर्भाव धर्म-नीति से भी पूर्व हुआ ।

ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी बनाकर प्रवज्या ली ।^४ यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सम्राट भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा ।^५ सम्राट भरत जैन संस्कृति के परम उपासक थे । उन्होंने अपने पिता द्वारा प्राप्त राज्यश्री का अत्यधिक विस्तार किया और चक्रवर्ती सम्राट बने ।^६ परिमाण और मण्डल-बंध के अतिरिक्त चारक (बन्दीगृह) और छविच्छेद (करादि अंगोपांगों का छेदन) — ये दो दण्ड सम्राट भरत ने प्रारम्भ किये ।^७ इन दण्ड नीतियों का उद्देश्य भी मानव जीवन में सुख और शान्ति का संचार करना ही था ।

१. आद्यद्वयमृषभकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये ।

— स्थानांगवृत्ति ७।३।५५७

२. कल्पसूत्र सू० १९५, पृ० ५७

३. श्रीमद्भागवत ५।४।१८ पृ० ५५८-५५९

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-सूत्र ३६, पृ० ७७

तथा देखिए — श्रीमद्भागवत ५।५।२८।५६३

५. तत्थ भरहो भरहवास चूडामणि ।

तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पव्वुचति ।

— वसुदेवहिण्डी प्रथमखण्ड पृ० १८६

तथा देखिए — अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरम्य व्यपदिशन्ति ।

— भागवत ५।७।३ पृ० ५६९

६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, 'भरताधिकार' ।

७. परिहासणा उ पढमा, मंडलिबंधो उ होइ बीया उ ।

चारगछविछेयाई, भरहस्स चउग्विहा नीति ॥

— आवश्यकभाष्य-गा० ३

तथा — आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, पत्र सं० २३७

सम्राट भरत के पश्चात् सगर, मधव, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जय, ब्रह्मदत्त—ये ग्यारह चक्रवर्ती और हुए।^१ ये सभी जैन संस्कृति के उपासक थे। तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव और बलदेव भी जैन संस्कृति के ही अनुयायी थे। जैन संस्कृति के अनुयायी होने से अहिंसा की ओर उनका सहज आकर्षण था।

आधुनिक ऐतिहासिक अन्वेषणों से यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि किसी युग में उत्तरी क्षेत्रों से बहुत बड़ी संख्या में आर्य लोग भारत वर्ष में आये। उनके आगमन के पूर्व यहाँ एक समुन्नत संस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।^२ वह संस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आश्रित थी। यहाँ तक कि उस संस्कृति के लोग अपने सामाजिक, व धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा पर उनकी पूर्ण निष्ठा थी और वह उनके जीवन व्यवहार का प्रमुख अंग थी।^३ भौतिक दृष्टि से भी उनका जीवन पूर्ण समृद्ध था।

धर्मानन्द कोसम्बी के अभिमतानुसार जो आर्य लोग बाहर से आये थे, उनकी संस्कृति लोकैषणा-प्रधान थी। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, सत्य, त्याग आदि सिद्धान्त वे नहीं मानते थे। हिंसा-प्रधान यज्ञों में तथा भौतिक पदार्थों (की उपलब्धि) में उनकी (गहन) निष्ठा थी। अतः उनके आगमन के पूर्व जो श्रमण संस्कृति विद्यमान थी, उसके साथ उनका संघर्ष हुआ। वासुदेव, श्रीकृष्ण श्रमण-संस्कृति के उपासक थे। उन्हें यह नवागत संस्कृति मान्य नहीं थी, अतः आर्यों के अधिनायक इन्द्र के साथ उनके संघर्ष होते रहे।^४

१. भरहो सगरो मधवं, सणकुमारो य रायसद्दूलो ।

संती कुंथू य अरो, हवइ सुभूमो य कौरव्वो ॥

नवमो य महापउयो, हरिसेणे चैव रायसद्दूलो ।

जयनामो य नरवई, बारमो बंभदत्तो य ॥

—समवायांगसूत्र, ४८-४९

२. चक्रवर्ती, ए०-दि रिलीजन आफ अहिंसा पृ० १७

३. भारतीय संस्कृति और अहिंसा-पृ० ५७

४. वही

छान्दोग्यउपनिषद् के अनुसार श्रीकृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के अनुयायी थे। घोर आंगिरस ने वासुदेव कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा प्रदान की थी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्यवचनरूप थी।^१ विद्वानों का यह मन्तव्य है कि घोर आंगिरस भगवान् श्री नेमिनाथ का ही नाम होना चाहिए।^२ 'घोर' शब्द भी जैन श्रमणों के आचार और तपस्या का प्रतिरूपक है।^३

जैन संस्कृति के उपासक होने के नाते उनकी राजनीति भी अहिंसा-प्रधान थी। महाभारत के प्रलयकारी युद्ध को रोकने के लिए श्रीकृष्ण ने जो प्रयत्न किया, वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित है। श्रीकृष्ण पाण्डवों के अधिकार को लेकर सन्धि करने हेतु हस्तिनापुर गये और उन्होंने वहाँ धृतराष्ट्र की सभा में अपने आने के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा—कौरवों और पाण्डवों में बिना वीरों का नाश किये ही शान्ति स्थापित हो जाय यही प्रार्थना करने आया हूँ।^४

इस पर धृतराष्ट्र ने कहा—हे कृष्ण ! मैं सब समझता हूँ पर तुम दुर्योधन को समझा सको तो प्रयत्न करो। कृष्ण ने दुर्योधन से कहा—हे तात ! शान्ति से ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण होगा।^५ यह सर्वविदित है कि कृष्ण को प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिली ? फिर भी उनके इस प्रयत्न की प्रशस्तता तो महान थी ही।

सभी जैन तीर्थङ्कर क्षत्रिय राज्यवंश में ही उत्पन्न हुए थे। अतएव उनका राज्यवंश के साथ प्रारम्भ से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। राजा लोग भी राज्य की सुव्यवस्था के लिए जैन संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त

१. अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा—

—छान्दोग्यउपनिषद् ३।१७।४

२. घोरतवे घोरे, घोरगुणे घोर तवस्सी, घोरबंभचेरवासी।—भगवती १।१

३. कल्पसूत्र, विवरण, पृ० २६२ (सं० देवेन्द्रमुनि शास्त्री)

४. शमे शर्मं भवेत्तात !—महाभारत, उद्योगपर्व १२४।१९

५. आवश्यकचूर्णि उत्तरार्द्ध, पृ० १६४।

देखिए—त्रिशण्डिशलाकापुरुषचरित १०-६-१८८

करते रहे। भगवान् महावीर जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर थे। तत्कालीन अठारह देशों के गणराज्य के अध्यक्ष महाराजा चेटक भगवान् महावीर के परम उपासक थे। वे प्रबल पराक्रमी और राजनीति-विशारद थे।^१ मगधाधिपति श्रेणिक भी भगवान् के परमभक्त थे। भगवान् महावीर के अहिंसा उपदेश से उत्प्रेरित होकर वह अपने राज्य में 'अमारीपडह' बजवाता है अर्थात् घोषणा करवाता है कि राज्य में कोई पशु-वध न करे।^२ कम्बोज, पांचाल, कोशल, काशी, वत्स, श्रावस्ती, वैशाली, मगध, बंग, कुशस्थल, अंग, घन, कटक, आन्ध्र, कर्लिंग, अवन्ती, सिन्धुसौवीर आदि के राजा भी महावीर के अनुयायी थे। नौ मल्ल और नौ लिच्छवी राजा भी महावीर के अनन्य उपासक थे।^३ वे भगवान् महावीर के निर्वाण के समय वहीं उपस्थित थे। उस समय जैन संस्कृति का भारतीय राजनीति पर गहरा प्रभुत्व था।

उसके पश्चात् सम्राट् चन्द्रगुप्त, सम्राट् सम्प्रति, सम्राट् खारवेल गुर्जर नरेश जयसिंह और कुमारपाल जैन संस्कृति के परम उपासक रहे हैं। उन्होंने अपने राज्य में अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया था। इतिहास की प्रारंभिक कक्षाओं में ही यह पढ़ाया जाता है कि वह युग (गुप्तकाल) भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था। पुरातत्त्ववेत्ता पी० सी० रायचौधरी के शब्दों में कहा जाय तो—“श्रेणिक, कुणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओं ने जैनधर्म को अपनाया। वे शताब्दियाँ भारत के हिन्दू-शासन के वैभवपूर्ण युग थे और उन्हीं युगों में जैनधर्म जैसा महान् धर्म प्रचारित हुआ।

बादशाह अकबर भी प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हीरविजयसूरि से प्रभावित हुए थे। अमेरिकी दार्शनिक विलड्यूरेन्ट ने लिखा है— 'अकबर ने जैनियों के कहने से शिकार छोड़ दिया था और कुछ नियत तिथियों पर पशु-हत्याएं रोक दी थीं। जैन धर्म के प्रभाव से अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-इलाही नामक सम्प्रदाय में मांस भक्षण का निषेध रखा था।^४ अतीत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि

१. उपासकदशांग सूत्र अ० ८

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०-१३-२४८

३. जैनभारती, वर्ष ६, अङ्क ४१, पृ० ६६७

4. OUR ORIENTAL HERITAGE, Page—467-471

जब तक राजनीति जैन संस्कृति की पृष्ठभूमि पर अपना विकास करती रही तब तक वह समत्व-प्रधान रही। उसमें चरित्रमूलक सौरभ और साधना का सौन्दर्य परिब्याप्त था। मानवता का नवनिर्माण करना ही उसका लक्ष्य था। नैतिकता के उच्च धरातल पर राष्ट्र को प्रतिष्ठित करना उसका कार्य था। उसकी यह दृढ़ धारणा थी कि चारित्रिक नैतिकता और व्यवहार-शुद्धि ही राष्ट्र की अमूल्य निधि है।

यह कहना नितान्त भ्रामक है कि जैन संस्कृति के अहिंसामूलक सिद्धान्तों ने भारत को कायर बना दिया और परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ दिया। अहिंसक कभी कायर नहीं होता। जैन संस्कृति के उपासक सम्राटों, मंत्रियों, दण्डनायकों और अन्य अधिकारियों के जीवन-वृत्त इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि वे कितने वीर, साहसी और योद्धा थे। उन्होंने देश को आजाद और आबाद रखने के लिए महान पुरुषार्थ किया। कायरता और परतन्त्रता का उदय तब हुआ जब हिंसा का उत्कर्ष हुआ, नैतिक परम्परायें धूमिल हुईं, राजनीति जैन संस्कृति की सहचारी नहीं रही और वह स्वार्थी पुरोहितों के प्रपंचों से प्रभावित हो गई। अन्ततः मैं यह कहने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ कि जब तक भारतीय राजनीति जैन संस्कृति पर आश्रित रही, तब तक वह गुलाब के पुष्प की भांति चारित्रिकसौरभ से सुवासित रही।



शोध सहायक,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

आचार्य हरिभद्र का योग दर्शन (शोध-प्रबंध-सार)

—धनंजय मिश्र

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक विकास हेतु योग-साधना की परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती आ रही है। यद्यपि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार साधना की प्रक्रिया में परिवर्तन, परिवर्धन एवं संशोधन होते रहे हैं, तथापि योग की मूल अवधारणा में आमूल परिवर्तन नहीं हुआ है। जैन योग की परम्परा भी इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि जैन योग परम्परा की अपनी विशिष्टता है। जैन योग को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्यों में महत्तरा याकिनीसूनु हरिभद्र सूरि अग्रगण्य हैं। अनेक विद्वानों ने जैन योग पर शोध कार्य किया जिसके फलस्वरूप कुछ स्वतन्त्र समीक्षात्मक ग्रन्थ भी प्रकाश में आये; इनमें १. आचार्य आत्माराम जी कृत 'जैनयोग' सिद्धान्त और साधना, २. मुनि नथमल जी कृत जैन योग, ३. डा० अहंदास बंडोबा दिगे लिखित 'जैनयोगकाआलोचनात्मकअध्ययन' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु विषय की व्यापकता के कारण उक्त ग्रन्थों में आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित जैन योग की अवधारणा का समग्रता के साथ प्रस्तुतिकरण नहीं हो सका है। अतः हरिभद्र के योग-विषयक साहित्य का सांगोपांग समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत करना मेरा अभीष्ट रहा है। इस हेतु शोध निबन्ध में हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थों को आधार बनाकर जैन योग के क्षेत्र में इनके अवदान को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में योग शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करते हुए सामान्य रूप से जैन परम्परा द्वारा एवं विशेष रूप से हरिभद्र द्वारा योग शब्द को किन-किन अर्थों में प्रयुक्त किया गया है इस पर विचार किया गया है। सबसे पहले योग शब्द ऋग्वेद में प्राप्त होता है,^१ जहाँ इसका अर्थ जोड़ना, मिलाना अथवा संयोग

१. ऋग्वेद-१०-१६७-१, शतपथब्राह्मण-१४-८-११

करना है। जबकि उपनिषदों में यही शब्द ध्यान, तप और समाधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^१

जैन परम्परा में योग शब्द सर्वप्रथम मन, वाणी और शरीर की गतिविधियों के अर्थ में आया है। प्राचीन आगम ग्रन्थों और तत्त्वार्थसूत्र में इसका यही अर्थ मिलता है। इसे बन्धन का कारण माना गया है। अतः आगमों में जैन साधना का लक्ष्य योग निरोध माना गया है। यद्यपि इस दृष्टि से जैन परम्परा भी चित्त वृत्ति निरोध की समर्थक है, किन्तु इसमें वृत्ति निरोध को योग न बतलाकर वृत्ति को ही योग कहा गया है। अतः अर्थ में मौलिक भेद होते हुए भी साधना के लक्ष्य में कोई भेद नहीं है। अपने वृत्तिपरक अर्थ के साथ-साथ योग शब्द का संयमपरक अर्थ में प्रयोग भी जैनागमों^२ में मिलता है। सूत्र-कृतांग में 'जोगवं'^३ स्थानांगसूत्र, में 'जोगवाही' शब्द समाधि में स्थित अनासक्त पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

आचार्य हरिभद्र ने अपनी समन्वयवादी दृष्टि के आधार पर उन सभी साधनों को 'योग' कहा है जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म मल का नाश होता है और आत्मा का मोक्ष के साथ संयोग होता है।^४ इस प्रकार हरिभद्र ने योग को बन्धन का कारण नहीं अपितु मुक्ति का साधन माना है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में आचार्य हरिभद्र के जीवन दर्शन और योग के क्षेत्र में उनके अवदान की चर्चा भी की गयी है।

द्वितीय अध्याय में आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी निम्न ग्रन्थों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१. योगबिन्दु

प्रस्तुत ग्रन्थमें ५२७ श्लोक हैं। इस ग्रन्थमें सर्वप्रथम योग के अधिकारी की चर्चा की गयी है। जिस जीव ने मिथ्यात्व रूपी ग्रन्थि का भेदन कर लिया है उसे ही इस ग्रन्थमें योग-साधना का अधिकारी माना गया है। योग के अधिकारी जीवों को आचार्य ने चार भागों में बाँटा है—

१. तैत्तरीयोपनिषद्-२।४, छान्दोग्यउपनिषद्, ७।६।१, कठोपनिषद्-१।२।१२
२. सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन २, उद्देशक १, गाथा-११
३. स्थानांगसूत्र, १०
४. योगविशिका पा०—सू०—२

(क) अपुनर्बन्धक—जो जीव अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर गुणों का विकास करता जाता है वह अपुनर्बन्धक होता है ।

(ख) सम्यक्दृष्टि—जिस जीव में प्रशम भाव अर्थात् शान्त-चित्त वृत्ति का विशेष रूप से प्रकरण हो जाता है उसे सम्यक् दृष्टि कहा जाता है ।

(ग) देशविरति—जब जीव अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वपत्नि सन्तोष और अपरिग्रहरूपी अणुव्रतों, गुणव्रतों तथा शिक्षाव्रतों का पालन करने लगता है तब उसकी स्थिति देशविरति की हो जाती है ।

(घ) सर्वविरति—यहाँ पहुँच कर जीव हिंसा, असत्य, चौर्यकर्म, कामवासना और परिग्रह आदि सभी पापों का पूर्णरूप से त्याग कर लेता है और आत्मा में लीन रहता है ।

इसके साथ ही चारित्र के वर्णन में योग की पांच भूमिकाएं वर्णित हैं ।

(क) आध्यात्म—यथाशक्ति अणुव्रत या महाव्रत को स्वीकार करके मैत्री, प्रमोद, करुण एवं मध्यस्थ भावना पूर्वक आगम के अनुसार आत्म-चिन्तन करना आध्यात्म साधना है ।

(ख) भावना—आध्यात्मिक सजगता का सतत् अभ्यास करना भावना है ।

(ग) ध्यान—आत्म सजगता का विकास करके चित्त को किसी एक पदार्थ पर स्थिर करना 'ध्यान' है ।

(घ) समता—संसार के सभी पदार्थों पर तटस्थ भाव रखना 'समता' है ।

(च) वृत्ति-संक्षय—भावना, ध्यान तथा समता के अभ्यास से वृत्ति संक्षय उद्भावित होता है ।

२. योगदृष्टिसमुच्चय

प्रस्तुत ग्रन्थ २२८ श्लोकों का है । इसमें योग के अधिकारियों को तीन विभागों में विभक्त किया गया है । प्रथम विभाग में आठ योग दृष्टियों को प्रस्तुत किया गया है । ये दृष्टियाँ निम्न हैं—

(१) मित्रा-दृष्टि—यह योग की प्रथम दृष्टि है। इस दृष्टि में साधक समस्त जगत् को मित्र भाव से देखता है।

(२) तारा-दृष्टि—तारा-दृष्टि में बोध मित्रा दृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होता है।

(३) बला-दृष्टि—बला दृष्टि आ जाने पर साधक के जीवन में उतावलापन कम हो जाता है, और स्थिरता बढ़ जाती है।

(४) दीप्रा-दृष्टि—इस दृष्टि में साधक का मन इतना पवित्र होता है कि वह धर्म को प्राणों से भी बढ़ कर मानता है।

(५) स्थिरा-दृष्टि—इसमें सम्यक् दर्शन से पतन नहीं होता है। इसमें साधक जो भी क्रिया-कलाप करता है वह भ्रांतिरहित, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध युक्त होता है।

(६) कान्ता-दृष्टि—इस दृष्टि में योगी धर्म की साधना तथा आचार्य की सम्यक् विशुद्धि के कारण सभी प्राणियों का प्रिय होता है।

(७) प्रभा-दृष्टि—प्रभा दृष्टि प्रायः ध्यान प्रिय है। राग, द्वेष, मोहरूपी, त्रिदोषजन्यरोग यहां बाधा नहीं देते।

(८) परा-दृष्टि—परा दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है। इसमें चित्त सध जाता है, चित्त में किसी प्रकार की प्रवृत्ति की इच्छा, कामना या वासना नहीं रहती है।

द्वितीय विभाग में 'योग' को तीन भागों में बाँटा गया है—

(१) इच्छायोग—धर्म साधना में इच्छा रखने वाले साधक में जो विकल धर्म योग है, उसे इच्छायोग कहा गया है।

(२) शास्त्रयोग—यथा शक्ति, प्रमादरहित, बोधयुक्त पुरुष की शास्त्र के (आगम) के प्रति निष्ठा को शास्त्र-योग कहा जाता है।

(३) सामर्थ्ययोग—जो शास्त्र मर्यादा से भी ऊपर उठा हुआ हो उसे सामर्थ्य योग कहा गया है।

तृतीय विभाग में योगी को चार भागों में बाँटा गया है—

(१) गोत्र योगी—ऐसे योगियों में सुपात्रता नहीं होती। साधन सहज ही प्राप्त होने पर भी वह यम-नियम का पालन नहीं करता, उसकी प्रवृत्ति संसाराभिमुख होती है। अतः ऐसा मनुष्य योग साधना का अधिकारी नहीं है।

(२) कुल योगी—ऐसे योगी किसी से भी द्वेष नहीं रखते, देव, गुरु, धर्म आदि उन्हें स्वभाव से ही प्रिय होते हैं, तथा ये दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय कहलाते हैं, कुल योग के अधिकारी होते हैं।

(३) प्रवृत्तिचक्र योगी—जिन मनुष्यों के किसी भी अंग से योग चक्र का स्पर्श हो जाता है, वे योग में प्रवृत्त हो जाते हैं, उन्हें प्रवृत्ति चक्र योगी कहा जाता है।

(४) सिद्ध योगी—ऐसे योगी अपनी योग साधना से सिद्धि को प्राप्त कर चुके होते हैं। अतः इन्हें योग साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

३. योगशतक

इसमें १०१ गाथाएँ हैं, प्रारम्भ में योग के स्वरूप का वर्णन किया गया है जो दो प्रकार का है—

(१) निश्चय योग—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के आत्मा के साथ सम्बन्ध को निश्चय योग कहा गया है। क्योंकि यही आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है इसीलिए उसकी संज्ञा निश्चय योग है।

(२) व्यवहार योग—धर्मशास्त्रों में बताई गई विधि के अनुरूप गुरुजनों का विनय, सेवा उनसे तत्त्वज्ञान सुनने की उत्कंठा तथा अपनी क्षमता के अनुरूप शास्त्रविहित आचरण करना ही व्यवहार योग है।

योग के अधिकारी तथा अनाधिकारी के प्रश्न को इसमें योगबिन्दु की ही भाँति निरूपित किया गया है। योग अधिकार प्राप्ति के लिए साधक को तैयारी करनी पड़ती है। प्रथमाधिकारी 'अपुनर्बन्धक' के लिए पर-पीड़ा परिहार, दीदान, गुरु एवं देवपूजा, सत्कार इत्यादि लौकिक धर्म पालन की चर्चा की गयी है। कर्मों की अवधि तथा फल देने की शक्ति कषाय की तीव्रता पर निर्भर करती है। कषाय जितना तीव्र होगा फल उतना ही कटु होगा। अपुनर्बन्धक कार्य को इस रूप में सम्पादित करता है कि वे पुनः बन्धन के कारण नहीं बनते हैं।

४. योगविंशिका

इसमें २० गाथाएँ हैं। इसमें धर्म साधना के लिए की जाने वाली आवश्यक धर्म क्रिया को योग कहा गया है। इसकी पांच भूमिकाएँ बतायी गयी हैं।^१

(१) स्थान—कायोत्सर्गसन, पर्यकासन, पद्मासन आदि आसनों को स्थान कहा है।

(२) ऊर्ण—क्रिया करते समय जिस सूत्र (मन्त्र) का उच्चारण किया जाता है उसे ऊर्ण कहते हैं।

(३) अर्थ—सूत्र के अर्थ का बोध होना अर्थ है।

(४) आलम्बन—बाह्य विषयों पर ध्यान केन्द्रित करना आलम्बन योग है।

(५) अनालम्बन—आलम्बन किये बिना शुद्ध आत्मा की समाधि को अनालम्बन कहा गया है।

इसमें प्रथम दो को कर्मयोग और अन्तिम तीन भेदों को ज्ञान-योग कहा गया है।

५. ब्रह्म-सिद्धांत-सार

यह ४२३ पद्यों में रचित संस्कृत रचना है।^२ इस ग्रन्थ में सर्व-दर्शनों का समन्वय है। षोडशकप्रकरण में जिज्ञासा, अद्वैत आदि आठ अंगों का जैसा उल्लेख है वैसा उनके श्लोक ३५ में है, योगदृष्टि समुच्चय में जैसा इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग का जो निरूपण है वैसा ही श्लोक १८८-१९१ में है। श्लोक ५४ में अपुनर्बन्धक का उल्लेख योगसमुच्चय जैसा है।^३

६. षोडशक

इत ग्रन्थ में कुल २५७ गाथाएँ हैं। इसमें धर्म के आन्तरिक स्वरूप कक्षा, देशना, लक्षण, मन्दिर निर्माण इत्यादि विषयों का संक्षिप्त विवेचन है।^४ इसमें प्रत्येक विषय पर १६-१६ गाथाएँ हैं।

१. योगविंशिका टीका—३

२. जैन साहित्य का बृहद्इतिहास, भाग-४, पृ० २३७

३. बही

४. शास्त्रवातसमुच्चय और उसकी व्याख्या, प्रस्तावना ले० मुनि जयसुन्दर विजय, पृ० ९

तृतीय अध्याय में हरिभद्र के पूर्व और पश्चात् के प्रमुख योग ग्रन्थों का परिचय दिया गया है, जिससे हरिभद्र के योग के विकास क्रम को समझा जा सके ।

जैन परम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं । उसमें पांच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय को श्रमण साधना का प्राण माना गया है । जैन आगमों में एक-दो सन्दर्भों को छोड़कर सामान्यतया योग शब्द समाधि या साधना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है । वहां योग का अर्थ है मन-वचन और काय (शरीर) की प्रवृत्ति । जैन आगमों में योग साधना के अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग हुआ है । ध्यान का अर्थ है अपने योगों (वृत्तियों) को आत्मा में केन्द्रित करना । जैन परम्परा में ध्यान के साथ साथ ही आसन और प्राणायाम का भी उल्लेख आता है क्योंकि इस प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर साधा जा सकता है । यद्यपि जैन आगमों में आसन और प्राणायाम पर अधिक बल नहीं दिया गया है । आगम ग्रन्थों में ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदि का वर्णन है ।^१ प्राचीन नियुक्तियों में भी आगमों में वर्णित ध्यान का ही स्पष्टीकरण किया गया है ।^२ आचार्य उमास्वाति (विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी) कृत तत्त्वार्थसूत्र में भी ध्यान का जो वर्णन है वह आगमों से भिन्न नहीं है ।^३ भद्रबाहु (विक्रम की चौथी-पांचवीं शताब्दी) कृत आवश्यकनियुक्ति में भी ध्यान का वर्णन मिलता है । जिनभद्रगणिकश्रमण (छठीं शताब्दी) रचित ध्यान-शतक भी आगम शैली में ही लिखा गया है ।^४

आगम युग से लेकर यहां तक योगविषयक वर्णन में आगम शैली की ही प्रधानता रही है । परन्तु आचार्य हरिभद्र (८वीं शताब्दी) ने परम्परा से चली आ रही वर्णनशैली को परिस्थिति के अनुरूप एक नया रूप दिया । जैन परम्परा में योग शब्द का पातञ्जल योगदर्शन सम्मत अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र ने किया । आचार्य

१. स्थानांगसूत्र-४, १, समवायांगसूत्र-४, भगवतीसूत्र-२५।७, उत्तरा-ध्ययनसूत्र ३०।३५ ।

२. आवश्यकनियुक्ति, कार्योत्सर्ग अध्ययन, १४६२-८६

३. तत्त्वार्थसूत्र-९।२७

४. हरिभद्रीयआवश्यकवृत्ति, पृ० ५८१

हरिभद्र की विशेषता यह थी कि उनका योग वर्गीकरण मौलिक था । इस रूप में वह न तो आगमों में मिलता है और न ही अन्य योग परम्पराओं से उधार लिया गया है । आचार्य हरिभद्र ने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थों में उन सब साधनों को योग कहा है जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल का नाश होता है और आत्मा का मोक्ष के साथ संयोग होता है ।^१ आचार्य हरिभद्र के बाद आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के प्रख्यात जैन आचार्य हुए हैं, इनकी रचना योग शास्त्र में हठ-योग तथा अष्टांग-योग का प्रभाव दिखायी देता है । मुनि-सुन्दर सूरि (१५वीं शती) कृत आध्यात्मकल्पद्रुम में १६ अधिकारों की चर्चा की गयी है जिसमें योगियों के आपेक्षित सामग्री की चर्चा है साथ ही हरिभद्र कृत चार भावनाओं का भी वर्णन है । यशोविजय (१८वीं शताब्दी) कृत योगपरक ग्रन्थ—

(१) आध्यात्मसार—इसमें गीता एवं पातंजलयोगसूत्र के विषयों का समन्वयात्मक विवेचन है ।

(२) आध्यात्मोपनिषद्—इसमें शास्त्र-योग, ज्ञान-योग, क्रिया-योग और साम्य-योग पर प्रकाश डाला गया है ।

(३) योगावतार बत्तीसी—इसमें आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थों की ही विस्तृत व्याख्या है ।

(४) पातंजल योगसूत्र एवं योगविशिका—योगविशिका में योग-सूत्रगत समाधि की तुलना जैन ध्यान से की गई है ।

(५) योगदृष्टिनी सज्ज्ञायमाला—इसमें योगदृष्टिसमुच्चय में प्रतिपादित आठ दृष्टियों का ही सम्यक् विवेचन किया गया है ।

साथ ही हरिभद्रकृत योगविशिका और षोडशक की टीका भी इन्होंने लिखे है । वास्तव में आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक दृष्टि को इन्होंने आगे बढ़ाया है ।^२ इन पर हरिभद्र का सर्वाधिक प्रभाव है । इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा के अनेक आचार्यों ने भी योग ग्रन्थ-विषयक लिखे हैं—

१. “मोक्षेण जोयणाओं जोगो”—योगविशिका गाथा-१

२. जैनयोगग्रन्थचतुष्टय-सम्पादक—छागनलाल शास्त्री, पृ० ७४ ।

(१) आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की पांचवीं-छठीं शताब्दी) कृत 'समाधि-तन्त्र' में ध्यान तथा भावना का निरूपण किया गया है।

(२) पूज्यपाद देववन्दि (५वीं ६ठीं शताब्दी) कृत 'समाधितन्त्र'।

(३) आचार्य जिनसेन (९वीं शताब्दी) कृत 'महापुराण'।

(४) आचार्य शुभचन्द्र (११वीं शताब्दी) कृत 'ज्ञानार्णव'।

(५) आचार्य रामसेन (११वीं शताब्दी) कृत 'तत्त्वानुशासन'।

(६) आचार्य सोमदेवसूरि (विक्रम की ११वीं शती) कृत 'योगसार'।

(७) विनयविजय जी (१८वीं शती) कृत 'शान्तसुधारस'।

इसके अतिरिक्त आशाधर जी कृत 'आध्यात्म-रहस्य' भी है। इनमें शुभचन्द्र पर हरिभद्र का प्रभाव देखा जाता है।

अन्त में यह कह सकते हैं कि आचार्य हरिभद्र की योग परम्परा को जिन आचार्यों ने आगे बढ़ाया उनमें प्रमुख आचार्य 'हेमचन्द्र', 'शुभचन्द्र' और उपाध्याय यशोविजय जी हैं।^१

साथ ही इस अध्यायमें हमने हरिभद्र की समत्व योग, योग साधना और मन तथा मन के स्थिरीकरण के उपाय पर प्रकाश डाला है।

चतुर्थ अध्याय में हरिभद्र की योग दृष्टियाँ और उनकी पातंजल कृत अष्टांग-योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम) से उनकी समानता आदि का विस्तृत विवेचन है, साथ ही दोनों दृष्टियों में क्या सम्बन्ध है यह बताने का प्रयास भी किया गया है।

पाँचवें अध्याय में योग साधना की भूमिका में यह बताया गया है कि जैन दर्शनानुसार रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का कारणभूत माना गया है। अतः योग के लिए चारित्र्य आधारस्तम्भ है। इसकी विवेचना तथा चारित्र्य की दृढ़ता के लिए जैन दर्शन में विभिन्न व्रतों-क्रियाओं आदि का विधान है जिसमें तप, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान आदि प्रमुख हैं, ये सभी चारित्र्य ही हैं। साथ ही जैन आचार की हरिभद्र आचार से तुलना-हरिभद्र ने चारित्र्यशील के चार लक्षणों का प्रतिपादन किया है—

२. लेख—“योगपरम्परा में आचार्य हरिभद्र का योगदान”

लेखिका—कु० अरुणाआनन्द, पृ० १२।

१. अपुनर्वन्धक, २. सम्यग्दृष्टि, ३. देशविरति, ४. सर्वविरति ।
छठवें अध्याय में योग और साधना के अन्तर्गत श्रावकाचार विषयक नियमों का उल्लेख किया गया है, जिसमें अणुव्रत, रात्रिभोजन गुणव्रत, शिक्षाव्रत, प्रतिमाएं एवं सत्कर्मों का निरूपण किया गया है ।
सातवें अध्याय में हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक विकास का विवेचन है ।

अन्तिम अध्याय में आचार्य हरिभद्र का योग के क्षेत्र में क्या अवदान रहा है यह बताने का प्रयास किया गया है । हरिभद्र को जैन-गमिक साहित्य उत्तराधिकार में प्राप्त था, यह बात तो उनके लिखे योग ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाती है किन्तु वे आगमिक विवेचनाओं तक सीमित नहीं रहे । उन्होंने अपनी कृतियों में अपनी परम्परा को पातंजल और बौद्ध परम्परा की योग सम्बन्धी अवधारणाओं को लेकर अभिनव दृष्टि का कड़ुआ घूट पिलाकर सबल और सचेतन बनाया तथा अपूर्ण अभ्यास को लेकर भिन्न-भिन्न पंथों और सम्प्रदायों के बीच जो संकीर्णता थी, उसे यथाशक्ति दूर करने का प्रयास किया । आचार्य ने देखा कि सच्चा साधक चाहे जिस परम्परा का हो उसका आध्यात्मिक विकास तो एक ही क्रम से होता है, अतः भले ही उसका निरूपण भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में हो, परन्तु उस निरूपण की आत्मा तो एक ही है । इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि मैं ऐसे ग्रन्थ को लिखूँ जो सुलभ और सभी योग शास्त्रों के दोहन-रूप हों और जिसमें किसी एक ही सम्प्रदाय में रूढ़ परिभाषा या शैली का आश्रय न लेकर नयी परिभाषा और नयी शैली की इस प्रकार आलोचना की जाय जिससे कि सभी योग परम्पराओं के योग विषयक मन्तव्य किस तरह एक हैं अथवा एक-दूसरे के निकट हैं, यह बतलाया जा सके । अपनी योग सम्बन्धी विवेचनाओं में जहाँ हरिभद्र जैन आगमों तथा पातंजल एवं बौद्ध योग परम्पराओं से प्रभावित रहे हैं, वहीं उन्होंने अपनी समन्वयात्मक दृष्टि द्वारा उन्हीं आधारों पर कुछ नयी परिभाषाओं की उद्भावना भी की है ।

उपसंहार के अन्तर्गत पूर्ववर्णित समस्त अध्यायों का सार प्रस्तुत किया गया है ।
शोध छात्र

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

कल्पप्रदीप में उल्लिखित

पश्चिमी भारत के जैन तीर्थ

डा० शिवप्रसाद

खरतरगच्छालंकार, सुल्तानमुहम्मदतुगलकप्रतिबोधक, युग-प्रधानाचार्य जिनप्रभसूरि द्वारा रचित कल्पप्रदीप अपरनाम विविध-तीर्थकल्प सम्पूर्ण जैन साहित्य में एक अद्वितीय ग्रंथ है। यह ग्रंथ वि० सं० १३८९ में योगिनीपुरपत्तन (दिल्ली) में पूर्ण हुआ, जैसा कि इसकी प्रशस्ति से स्पष्ट है--

नन्दा-ऽनेकप शक्ति-शीतगुमिते श्रीविक्रमोर्वोपतेवर्षे
भाद्रपदस्य मास्यवरजे सौम्ये दशम्यां तिथौ ॥
श्रीहम्मीरमहम्मदे प्रतपति क्षमामण्डलाखण्डले
ग्रन्थोऽयं परिपूर्णतामभजत श्रीयोगिनीपत्तने ॥३॥
तीर्थानां तीर्थभक्तानां कीर्तनेन पवित्रितः ।
कल्पप्रदीपनामाऽयं ग्रन्थो विजयतां चिरम् ॥४॥

॥ इति श्रीकल्पप्रदीपग्रन्थः समाप्तः ॥

इस ग्रंथ में लगभग ४० जैन तीर्थों का कल्प-रूप में अलग-अलग विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त “चतुरशीतिमहा-तीर्थनामसंग्रहकल्प” नामक स्वतन्त्रकल्प के अन्तर्गत २४ तीर्थकरों से सम्बन्धित तीर्थस्थानों का अलग-अलग नामोल्लेख किया गया है। वस्तुतः कल्पप्रदीप में सम्पूर्ण भारतवर्ष के १४वीं शती तक के प्रसिद्ध प्रायः सभी जैन तीर्थों का उल्लेख है।

कल्पप्रदीप में उल्लिखित वे जैनतीर्थ जो पश्चिमी भारत (वर्तमान गुजरात-राजस्थान) में अवस्थित हैं, की एक तालिका इस प्रकार है--

अ-गुजरात-सौराष्ट्र

- १-अजाहरा (अजारी)
- २-अम्बुरिणीग्राम (आमरण)
- ३-अणहिलपुरपत्तन
- ४-अश्वावबोधतीर्थ

- ५-उज्जयन्तमहातीर्थ (गिरनार)
- ६-काशहृद
- ७-कोकावसतिपार्श्वनाथ (अणहिलपुर)
- ८-खेटक (खेड़ा)
- ९-खङ्गारगढ़ (जूनागढ़)
- १०-तारण (तारंगा)
- ११-द्वारका
- १२-नगरमहास्थान (वडनगर)
- १३-पाटलानगर
- १४-प्रभासपाटन
- १५-मोढेरक (मोढेरा)
- १६-रामसैन
- १७-वलभी
- १८-वायड
- १९-शत्रुञ्जय
- २०-शंखेश्वर
- २१-सिंहपुर (सिहोर)
- २२-स्तम्भनक (थामणा)
- २३-स्तम्भतीर्थ (खंभात)

ब-राजस्थान

- १-अर्बुदगिरि (आबू)
- २-उपकेशपुर (ओसिया)
- ३-करहेटक (करेड़ा)
- ४-नन्दिवर्धन (नांदिया)
- ५-नागहृद (नागदा)
- ६-नाणा (नाना)
- ७-पल्ली (पाली)
- ८-फलवर्धिका (फलौधी)
- ९-मुंडस्थल (मुंगथला)
- १०-शुद्धदन्ती (सोजत)
- ११-सत्यपुर (सांचौर)

प्रस्तुत लेख में कल्पप्रदीप में उल्लिखित राजस्थान प्रान्त के जैन तीर्थों का एक विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत है ।

१. अबुर्दगिरिकल्प

अबुर्दगिरि जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उत्तरकालीन जैन-साहित्य में इसके बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यहाँ विमलवसही और लूणवसही नामक दो जिनालय विद्यमान हैं, जो अपनी उत्कृष्ट कला के कारण जगत्विख्यात हैं। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ का उल्लेख किया है और इसके बारे में प्रचलित मान्यताओं, विमलवसही और लूणवसही के निर्माण, विध्वंस एवं पुनर्निर्माण आदि का तिथिक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“पूर्व काल में श्रीरत्नमालनगरी में ‘श्रीपुञ्ज’ नामक एक राजा राज्य करता था। उसके ‘श्रीमाता’ नामक एक पुत्री थी, जो वानरमुखवाली थी। श्रीमाता को अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त याद था; जिसे एक दिन उसने अपने पिता से बताया। राजा ने उसे अबुर्दपर्वत पर भेजकर वहाँ स्थित कुण्ड में उसका मुख डुबवाया, जिससे वह नारी के समान मुखवाली हो गयी और वहीं तपश्चर्या करने लगी। एक दिन वहाँ एक योगी ने उसे देखा और उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। श्रीमाता ने छल से उसका वध कर दिया और आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह स्वर्ग गयी। तत्पश्चात् राजा ने वहीं उसका एक मन्दिर बनवा दिया। लौकिक धर्म में इस पर्वत का अबुर्द नाम पड़ने के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है, जिसके अनुसार यह हिमालय का पुत्र था और इसका नाम नन्दिवर्धन था। बाद में अबुर्द नाम का यहाँ अधिष्ठान होने से इसका नाम ‘अबुर्दगिरि’ प्रचलित हो गया। इस पर्वत पर अनेक सुन्दर-सुन्दर वृक्ष हैं, इनसे बहुत सी औषधियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ वशिष्ठाश्रम, मन्दाकिनी, अचलेश्वर, गोमुखयक्ष आदि लौकिक तीर्थ हैं। वि० सं० १०८८ में मन्त्रीश्वर विमल ने यहाँ ‘विमलवसही’ का निर्माण

कराया। इसी प्रकार वि० सं० १२८८ में तेजपाल ने 'लूणवसही' का निर्माण कराया। मुसलिम आक्रामकों ने इन दोनों मन्दिरों को क्षतिग्रस्त कर दिया, तत्पश्चात् वि० सं० १३७८ में महणसिंह के पुत्र लल्ल ने 'विमलवसही' तथा चण्डसिंह के पुत्र पथड़ ने 'लूणवसही' का पुनर्निर्माण कराया। चौलुक्यनरेश कुमारपाल ने भी यहाँ पर्वतशिखर भगवान् महावीर का एक चैत्य निर्मित कराया।^१

आबू पर्वत पर श्रीमाता (कुँवारी कन्या) का एक मन्दिर विद्यमान है। इस देवी (श्रीमाता) के बारे में स्थानीय लोगों में भी प्रायः उसी प्रकार की किंवदन्ती प्रचलित है^२ जैसा जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित है। अबुदगिरि के नामकरण सम्बन्धी जो बात जिनप्रभ ने बतलायी है, वह महाभारत तथा पुराणों में विस्तृत रूप से कही गयी है।^३ राम के गुरु वशिष्ठ का आश्रम यहीं था, यह बात ब्राह्मणीय परम्परा के पुराणों से ज्ञात होती है।^४

आज यहाँ वशिष्ठाश्रम नामक जो मन्दिर विद्यमान है, वह वि० सं० १३९४ के लगभग निर्मित कराया गया।^५ यहाँ एक कुण्ड भी है; जिसमें पाषाण निर्मित गाय के मुख से सदैव जल की एक क्षीण धारा गिरती रहती है, यह 'गोमुखकुण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है।^६ जिनप्रभसूरि ने संभवतः इसी को 'गोमुखयक्ष' के नाम से उल्लिखित किया है। 'अचलेश्वर' एवं 'मन्दाकिनी' आदि जिन लौकिक तीर्थों की ग्रन्थकार ने चर्चा की है वे आज भी यहाँ विद्यमान हैं। अचलगढ़ के नीचे तलहटी में 'अचलेश्वरमहादेव' का एक प्राचीन एवं महिम्न मंदिर है। इसके चारों ओर चहारदीवारी है। ब्राह्मणीय परम्परानुसार, 'अचलेश्वरमहादेव' आबू के अधिष्ठायक देव माने जाते हैं। आबू पहले परमारों, तत्पश्चात् चाहमानों के अधीन रहा। चाहमानों ने 'अचले-

१. मुनि जयन्तविजय—आबू, भाग-१, पृ० २०५, पादटिप्पणी।

२. महाभारत की नामानुक्रमणिका, पृ० २४।

Dave, J. H, *Immortal India*, Vol. VIII. p. 61.

३. काणे, पी० बी०—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ० १४०४।

४. मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, पृ० २३४।

५. वही, पृ० १९५-२००।

श्वरमहादेव' को अपने कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित किया था। यह मंदिर प्राचीन है, परन्तु अनेक बार इसका पुनर्निर्माण कराया गया है। यहाँ से वि० सं० १२९४, वि० सं० १३४३, वि० सं० १३७७ तथा वि० सं० ३८७ एवं बाद के कई लेख प्राप्त हुए हैं जो इस शिवालय के पुनर्निर्माण, दान आदि की चर्चा करते हैं।^१ इसी मंदिर के पास 'मन्दाकिनी' नामक एक कुंड है, जिसकी लम्बाई ९०० फुट तथा चौड़ाई २४० फुट के लगभग है।^२

विमलशाह ने वि० सं० १०८८ में यहाँ विमलवसही का निर्माण कराया, ऐसा जिनप्रभ ने उल्लेख किया है। परन्तु यहाँ से 'विमल-शाह' का अथवा उसके समय का ऐसा कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है, जिसमें उक्त बात की चर्चा हो। विमलवसही से प्राप्त सबसे प्राचीन अभिलेख में जो देवकुलिका नं० १३, वि० सं० १११९/ई० सन् १०६३ का है, शान्तमात्य की पत्नी शिवदेवी द्वारा प्रतिमा स्थापित करने की चर्चा है। इस अभिलेख में विमल अथवा उसके द्वारा निर्मित मंदिर की कोई चर्चा नहीं मिलती^३, परन्तु पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसा विश्वास बना रहा कि इस मंदिर का निर्माण 'विमलशाह' ने कराया। यह कथानक १४-१५वीं शती के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। विमल वसही से प्राप्त दो अन्य अभिलेख, जो वि० सं० के १३वीं शती के मध्य के हैं, इस बात का समर्थन करते हैं कि यह मंदिर विमल द्वारा निर्मित कराया गया। उदाहरण के लिये देवकुलिका नं० १० से प्राप्त लेख जो वि० सं० १२०१/ई० सन् ११४५ का है, वीर 'प्रथम' के पुत्र 'नेढ' से सम्बन्धित है, इसमें कहा गया है कि 'वीर' के द्वितीय पुत्र 'विमल' ने यहाँ ऊँचा मन्दिर बनवाया।^४ दूसरा लेख देवकुलिका

१. मुनि-जयन्तविजय—पूर्वोक्त पृ० १९८;
मुनि जिनविजय—प्राचीनजैनलेखसंग्रह, भाग २ 'अवलोकन', पृ० १४०
२. मुनिजयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० १९९
३. Dhaky, M A. —“Complexities Surrounding The Vimalvasami Temple At Mt. Abu.”
Occasional Papers Series, Department of South Asia Regional Studies,
University of Pennsylvania, Philadelphia-1980.
४. मुनिजयन्तविजय—अर्बुदप्राचीनलेखसंदोह, लेखाङ्क ५१

नं० ५ से प्राप्त हुआ है, यह वि० सं० १२०२/ई० सन् ११४६ का है और कुंधुनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। इस लेख के विवरणानुसार यह प्रतिमा केलहा, वोल्हा तथा अन्य सूत्रधारों ने निर्मित किया।^१ ये संभवतः पृथ्वीपाल द्वारा रखे गये शिल्पकार थे। सोलंकीकाल का कोई भी ऐसा कथानक अथवा अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है जिसमें विमल द्वारा निर्मित इस मंदिर के निर्माण-तिथि की चर्चा हो, तथापि सोलंकी काल के पश्चात् एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिलेख जो वि० सं० १३७८/ई० सन् १३२२ का है, में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस युगादिदेव के मंदिर को वि० सं० १०८८ में विमल द्वारा निर्मित कराया गया।^२ इसी विवरण के पश्चात् जिनप्रभसूरि का विवरण है, जिसमें उन्होंने भी यही बात कही है। १४वीं-१५वीं शती में लिखे गये 'प्रबन्धग्रंथों' में भी इसी तथ्य का उल्लेख किया गया है, जैसे—
प्रबन्धकोश—^३ (राजशेखर-वि० सं० १४०५); **पुरातनप्रबन्धसंग्रह**^४ (प्रति-बी), **उपदेशतरंगिणी**—^५ (धर्मसिंहसूरि-वि० सं० १४६१) **वस्तुपालचरित**^६ (जिनहर्षगणि-वि० सं० १४९७), **उपदेशसप्ततिका**—^७ (सोमधर्मसूरि-वि० सं० १५०३) आदि। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विमलशाह ने वि० सं० १० ८ के लगभग विमलवसही का निर्माण कराया।^८

१. सं० १२०२ आषाढ सुदि ६ सोमे सूत्र० सोढा साई सुत सूत्र० केला वोल्हा सहव लोयपा वागदेवादिभिः श्रीविमलवसतिकातीर्थे श्रीकुंधुनाथ-प्रतिमा कारिता ।

मुनि जयन्तविजय—अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क ३४

२. श्रीविक्रमादित्यनृपाद् व्य[*]तीतेऽष्टाशीतियाते (युक्ते) शरदां सहस्रे । श्रीआदिदेवं शिखरे [5] नृदस्य निवेसि(शि)तं श्रीरि(वि)मलेन वंदे ॥ मुनिजयन्तविजय—वही, लेखाङ्क १, श्लोक ११

३. "वस्तुपालप्रबन्ध" प्रबन्धकोश पृ० १२१

४. "विमलवसतिकाप्रबन्ध" पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृ० ५१

५. "श्री विमलमन्त्रिकीर्तिदानप्रबन्धः" उपदेशतरंगिणी, पृ० ७२

६. प्रस्ताव ८, श्लोक १२ और आगे

७. द्वितीय अधिकार, चतुर्थ उपदेश, श्लोक ७ और आगे

८. ढाकी, पूर्वोक्त—पृ० ४

लूणवसही का निर्माण तेजपाल ने वि०सं० १२८७ में कराया था, यह बात यहाँ से प्राप्त लेख से स्पष्ट होती है,^१ परन्तु जिनप्रभ ने लूणवसही के निर्माण की तिथि वि०सं० १२८८ बतलायी है, जो उनका भ्रम हो सकता है।

विमलवसही और लूणवसही को मुस्लिम आक्रमणकारियों ने क्षतिग्रस्त कर दिया। वि०सं० १३७८ में इनका पुनर्निर्माण कराया गया। यह आक्रमणकारी कौन था? अलाउद्दीन खिलजी ने वि० सं० १३६५/ई० सन् १३०८ में जालौर पर आक्रमण किया था,^२ उसी समय उसने इन मन्दिरों को भी नुकसान पहुँचाया होगा। विमलवसही का पुनर्निर्माण वि०सं० १३७८ में सम्पन्न कराया गया, यह बात यहाँ उक्त तिथि के लेख में उतकीर्ण है,^३ परन्तु लूणवसही के पुनर्निर्माण के बारे में अन्यत्र कोई सूचना प्राप्त नहीं होती, अतः जिनप्रभसूरि की बात प्रामाणिक मानी जा सकती है।

२. उपकेशपुर

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उपकेशपुर का भी उल्लेख किया गया है और यहाँ महावीरस्वामी के एक जिनालय होने की बात कही गयी है।

१. ॥ ॐ नमः [सं]वत् १२८७ वर्षे लौकिक फाल्गुन वदि३ रवौ अद्येह श्रीमदणहिलपाटके चौलुक्यकुलकमलराजहंससमस्तराजावली-समलंकृतमहाराजाधिराज श्रीभीमदेवविजयराज्ये
 ...श्रीवष्ट (ष्ठ) कुंडयजता (ना) शिनलोदभूत
 श्रीमदबुंदाचलोपरि देउलवाडाग्रामे समस्तदेवकुलिकालंकृतं विशालहस्ति-शालोपशोभितं श्रीलूणसिंहवसहिकाभिधान श्रीनेमिनाथदेवचैत्यमिदं कारितं ॥

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क २५१

२. मजुमदार और पुसालकर—दिल्लीसलतनत, पृ० ३३

३. वसु-मुनि—तु (गु) ण—शसि (शि) वर्ष (र्षे)
 ज्येष्टे (ष्ठेऽ) सितिनर (व) मिसोमयुतदिवसे ।
 श्रीज्ञानचंदगुरुणां प्रतिष्ठि (ष्ठि) तोऽर्बुदगिरौ ऋषभः ॥

उपकेशपुर आज ओसिया के नाम से जाना जाता है। प्रतिहार और चाहमान युग में यह एक प्रसिद्ध नगरी थी। इसे उवएस^१ तथा ऊकेश^२ आदि नामों से भी जाना जाता रहा। यह नगरी कब अस्तित्व में आयी, यह बात विवादास्पद है। प्रतिहारनरेश वत्सराज जो ई० सन् ८वीं शती के उत्तरार्ध में यहाँ शासन कर रहा था, के समय यहाँ महावीर जिनालय का निर्माण कराया गया, यह बात उक्त जिनालय से प्राप्त वि०सं० १०१३ के एक अभिलेख से ज्ञात होती है।^३ इस जिनालय के निर्माण की तिथि ज्ञात नहीं, केवल यही ज्ञात होता है कि वत्सराज (लगभग ई० सन् ७७५-८००) के समय इसका निर्माण कराया गया। वत्सराज के पश्चात् इस क्षेत्र पर आभीरों ने अधिकार कर लिया, परन्तु ई० सन् ८१६ में प्रतिहारों के सामन्त कक्कुके ने आभीरों से यह क्षेत्र छीन लिया और बाद में उसने प्रतिहारों की अधीनता से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र चाहमान सत्ता स्थापित कर ली।^४ वि० सं० १२३६/ई० सन् ११७९ में यह क्षेत्र कुमारिम्ह, जो

मुनिजयन्तविजय, वही, लेखाङ्क, १, श्लोक ४२

१. उवएस-किराडउए वि जयपुराईसु मरुमि वंदामि ।
सच्चउर-गुडुरायसु पच्छिमदेसेमि वंदामि ॥
—सकलतीर्थस्तोत्र — सिद्धसेनसूरि, श्लोक २६

दलाल, सी० डी०—पत्तनस्य प्राच्यजैन भाण्डागारीय ग्रन्थसूची,
पृ० १५६

२. समेतमेतत्प्रथितं पृथिव्या मूकेशनामास्ति पुरं गरीयः ॥९॥

वीरजिनालय, ओसिया की प्रशस्ति

नाहर, पूरनचन्द—जैनलेखसंग्रह, भाग १, लेखाङ्क ७८८

३.संवत्सर दशशत्यामधिकायां वत्सरं स्त्रयो दशभिः
फाल्गुन शुक्ल तृतीया भाद्रपदाजा
.....सं० १०१३.....यूयाभि ॥

नाहर, वही, लेखाङ्क ७८८

४. जैन, कैलाशचन्द्र—एन्शेन्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान,
पृ० १८०

चाहमान राजा चेल्लणदेव का पुत्र था, द्वारा शासित होता रहा ।^१

प्रतिहार और चाहमान युग में उपकेशपुर ब्राह्मणीय और जैन धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा । मध्य युग में भी इसकी महत्ता विद्यमान रही । आज यहाँ १६ ब्राह्मणीय और जैन मंदिर विद्यमान हैं जो कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

यहाँ स्थित जैन मन्दिरों में महावीर स्वामी का मन्दिर सर्वोत्कृष्ट है । इस जिनालय से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वत्सराज के समय इसका निर्माण कराया गया और १०वीं-११वीं शती में इसका पुनर्निर्माण हुआ । इस जिनालय के निर्माण में महा-मारु शैली का प्रयोग हुआ है ।^२

इस जिनालय में वि०सं० १०१३ से वि०सं० १७५८ तक के लेख हैं जो जिनालय के स्तम्भ, तोरण तथा प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं ।^३ इनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

१—वि० सं० १०१३	फाल्गुन सुदि ३	जिनालय की प्रशस्ति
२—वि० सं० १०३५	आषाढ सुदि १०	जिनालय के तोरण पर
३—वि० सं० १२३१	मार्ग सुदि ५	स्तम्भ पर
४—वि० सं० १२५९	कार्तिक सुदि १२	२४ माता के पट्ट पर

१. सं० १२३६ कार्तिक सुदि १ बुधवार अद्येह श्रीकेल्लणदेव महाराज राज्ये तत्पुत्र श्री कुंमर सिंहे सिंह विक्रमे श्री माण्डव्य पुराधिपती..... दभिकान्वीय कीर्तिपाल राज्य वाहके तद्भुक्ती श्रीउपकेशीय श्रीसच्चिका-देवि देवगृहे श्रीराजसेवक गुहिलं.....।

सचियामाता का मंदिर (ओसिया) पर उत्कीर्ण लेख-नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ८०४

2. Dhaky, M. A. "Jaina Temples of Western India," Mahaveer Jaina Vidyalaya Golden Jubilee Volume. Part I, p. 236.

३. नाहर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७८८-८०२

प्रतिमा-लेख

१—वि० सं० १०८८	फाल्गुन वदि ४	जिन प्रतिमा का लेख
२—वि० सं० १२३४	वैशाख सुदि १४	”
३—वि० सं० १२३४	वैशाख सुदि १४ मंगलवार	”
४—वि० सं० १४३८	आषाढ सुदि ९ शुक्रवार	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख
५—वि० सं० १४९२	वैशाख वदि ५	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख
६—वि० सं० १५१२	फाल्गुन सुदि ८ शनिवार	कुण्डुनाथ की प्रतिमा का लेख
७ वि० सं० १५३४	माघ सुदि ५	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख
८—वि० सं० १५४९	माघ सुदि ५ गुरुवार	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख
९—वि० सं० १६१२	वैशाख सुदि ५	जिन प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
१०—वि० सं० १६८३	ज्येष्ठ सुदि ३	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख
११—वि० सं० १७५८	आषाढ सुदि १३	जिन प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख

यहीं स्थित पीपलादेवी का विशाल सभामंडप युक्त मंदिर १०वीं शती के अन्तिम चरण में निर्मित हुआ है।^१ इसी प्रकार यहां स्थित सच्चिया माता का मंदिर ई० सन् ८वीं शती का है, परन्तु इसके अधिकांश भाग १२वीं शती में निर्मित हैं।^२

१. जैन, कैलाशचन्द्र—पूर्वोक्त, १८३
२. Dhaky, M. A.—“The Iconography of Sacciya Devi”
Babu Chote Lal Jain Commemoration Volume
(Calcutta 1967 A. D.) p.—63-69.

ओसवाल वणिकों की यहीं उत्पत्ति हुई मानी जाती है।^१ ८वीं-९वीं शती के लगभग इस जाति की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। इससे पूर्व इस जाति की प्राचीनता का उल्लेख नहीं मिलता। सचिया माता के मन्दिर में वि० सं० १२३४, वि० सं० १२३६, वि० सं० १२४५ और वि० सं० १२४६ के लेख विद्यमान हैं।^२ वि० सं० १२४५ के लेख से ज्ञात होता है कि पाल्हिया की पुत्री और यशोधर की पत्नी सम्पूर्ण द्वारा महावीर स्वामी के रथ के लिये दान दिया गया।^३ नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबंध (कककसूरि, रचनाकाल वि० सं० १३९५) के अनुसार यह स्वर्णमय रथ वर्ष में एकबार नगर में घुमाया जाता था।^४

उपकेशपुर से ही श्वेताम्बर श्रमण संघ की एक प्रसिद्ध शाखा उपकेशगच्छ का उदय हुआ।

उपकेशगच्छ के कई नाम मिलते हैं, यथा—ऊकेश, उएस, ओसवाल, कडवा आदि। यह गच्छ भगवान् पार्श्वनाथ से अपनी परम्परा को जोड़ता है। इस गच्छ से सम्बन्धित अनेक प्रतिमा लेख तथा उपकेशगच्छचरित्र^५—(रचनाकार—कककसूरि, रचनाकाल—वि० सं० १३९३/ई० सन् १३३६), नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबंध^६ (रचनाकाल

१. ढाकी, पूर्वोक्त, पृ० ६३
२. नाहर—पूर्वोक्त, लेख क्रमांक ८०४-५-६-७-८।
३. सं० १२४५ फाल्गुन सुदि ५ अद्येह श्रीमहावीर रथशाला निमित्त.....
.....पाल्हियाधीन देव चन्द्रवधू यशधर भार्या सम्पूर्ण श्राविकयाआत्म श्रेयार्थ समस्त गोष्ठि प्रत्यक्षं च आत्मीया स्वजन वर्ग समतेन आत्मीय गृहं दत्तं। नाहर, वही, लेख क्रमांक ८०७।
४. जैन, कैलाशचंद्र—पूर्वोक्त, पृ० १८४।
५. नाहटा, अगरचंद—“जैन श्रमणों के गच्छों पर विशद प्रकाश” यतीन्द्र-सूरि अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० १४२
- ६.

वि०सं० १३९५/ई० सन् १३३८), उपकेशगच्छपट्टावली,^१ उपकेश-
गच्छगुर्वावली^२ आदि उपलब्ध हैं ।

मुस्लिम आक्रमणों के समय यहां के जिनालयों को भी क्षति पहुँची, परन्तु उसके बाद भी मंदिरों का जीर्णोद्धार, और नूतन जिनप्रति-
माओं का निर्माण जारी रहा, यह बात यहाँ से प्राप्त लेखों से ज्ञात
होती है । आज यहां जो मंदिर विद्यमान हैं, उनका स्थापत्य एवं कला
की दृष्टि से विशेष महत्त्व है । उपकेशपुर (ओसिया) वर्तमान राज-
स्थान प्रान्त के जोधपुर से ५२ किमी० उत्तर-पश्चिम में स्थित है ।

३. करहेटक

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत
'करहेटक' का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहां जिन
पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है ।

करहेटक आज करेड़ा के नाम से जाना जाता है । यह स्थान
उदयपुर-चित्तौड़ रेलवे मार्ग पर करेड़ा स्टेशन से एक किलोमीटर दूर
स्थित है ।^३ यहाँ पार्श्वनाथ का एक प्राचीन जिनालय है, जो बावन
जिनालय के नाम से प्रसिद्ध है । इस जिनालय की देवकुलिका से
वि०सं० १०३६ का एक शिलालेख मिला है^४ जिसके अनुसार 'यशो-
भद्रसूरि ने वि०सं० १०३९ में पार्श्वनाथ बिम्ब की स्थापना की ।'
इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि १०वीं शती के लगभग यह
मंदिर निर्मित हुआ होगा । यहाँ से प्राप्त वि० सं० १३२६ के एक
शिलालेख में इस स्थान का नाम "करहेडा" उल्लिखित है ।^५ मंदिर
में स्थित पार्श्वनाथ की श्याम संगमरमर की प्रतिमा पर वि० सं०
१६५६ का एक लेख उत्कीर्ण है^६ जिसमें इस जिनालय के जीर्णोद्धार

१. मुनि दर्शन विजय—संपा० पट्टावलीसमुच्चय, भाग-१, पृ० १७७-१९४
२. मुनि जिनविजय—संपा० विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह, पृ० ७-९
३. त्रिपुटी महाराज—जैनतीर्थीनो इतिहास, पृ० ३७९ ।
४. नाहर, पूरनचन्द—जैनलेखसंग्रह लेखाङ्क, १९४८ ।
५. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, पृ० ३४४ ।
६. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, ई० सन् १९०५
पृ० ५९-६० ।

कराये जाने की बात कही गयी है। जिनालय के सभामंडप का ऊपरी भाग मस्जिदनुमा बनाया गया है।^१

मुस्लिम शासन स्थापित होने के पश्चात् इस जिनालय को उनकी कुदृष्टि से बचाने के लिये उक्त निर्माण कराया गया होगा। बाद में वि०सं० १६५६ में जब इसका पुनर्निर्माण कराया गया तो उस समय भी इसके मस्जिदनुमा आकृति को कायम रखा गया^२। इस जिनालय में वि०सं० १८८७ तक के लेख विद्यमान हैं। ये लेख पंचतीर्थियों पर, चौबीसी पर, प्रतिमाओं (घातु एवं पाषाण) पर तथा देहरियों पर उत्कीर्ण हैं और इनकी संख्या ५० के लगभग है।^३ आज भी यह स्थान राजस्थान के प्रसिद्ध जैन तीर्थों में एक है।

नन्दिवर्धन

आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनाम-संग्रहकल्प” के अन्तर्गत “नन्दिवर्धन” नामक तीर्थ का भी उल्लेख किया है और यहां भगवान् महावीर के मन्दिर होने की बात कही है।

नन्दिवर्धन आज नांदिया के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान वर्तमान राजस्थान प्रान्त के सिरोही जिलान्तर्गत स्थित है। सिरोही नगर से इसकी दूरी २४ किमी० तथा सिरोहीरोड रेलवे स्टेशन से मात्र १०किमी० है।^४ इस तीर्थ के कई नाम प्रचलित रहे हैं यथा

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्नसर्किल, ई० सन् १९०५ पृ० ६०।
२. स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार मुगल सम्राट् अकबर ने धार्मिक सद्भाव स्थापित करने के कारण मन्दिर के ऊपरी भाग को मस्जिदनुमा बनवा दिया। परन्तु यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। वास्तवमें यह निर्माण स्वयं हिन्दुओं ने कराया था, क्योंकि वे मुसलमानों के ध्वंसात्मक नीति से परिचित थे, इसीलिए यह निर्माण कराया गया। इस काल में मुस्लिम शासकों द्वारा मन्दिरों को मस्जिदों में बदला जा रहा था। शत्रुंजय स्थित आदिनाथ का मन्दिर जिसे मस्जिद के रूप में बदल दिया गया, इसका ज्वलंत उदाहरण है—वही, पृ० ६०।
३. नाहर, पूर्वोक्त—लेखाङ्क, १९०२ से १९५७।
४. तीर्थदर्शन, पृ० २६०।

नन्दिग्राम, नन्दिपुर, नांदिया आदि । स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार भगवान् महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन ने इस तीर्थ की स्थापना की थी, इसीलिए इस तीर्थ का नाम नन्दिवर्धन पड़ा ।^१ ग्राम के बाहर भगवान् महावीर का एक प्राचीन जिनालय विद्यमान है । इस जिनालय में कुल ७७ जिनप्रतिमायें हैं ।^२ मंदिर के स्तम्भों पर कई लेख भी हैं, जो वि०सं० ११३० से वि०सं० १५२९ तक के हैं । इनका विवरण इस प्रकार है—

१—संवत् ११३० बैशाख सुदि १३ नन्दियक चैत्यहा(ह)र वापी निर्मापिता सिवगणे[न] ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—पाषाण की चौकी पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंवोह, लेखाङ्क ४५२

२—संवत् १२०१ भाद्रवा सुदि १० सोम दिने ॥

नीबा भेपाभ्यां वुहुं सीतिणि था . . . थांभ ॥२॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीरजिनालय-सभामंडप के बाईं ओर स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४५३

३—संवत् १२५३ कुल २ देवि र्या
मालणश्रेयोर्थ कारापि ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—अंबिकादेवी की मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४५५

४—संवत् १२९० वर्षे पोस सुदि ३ रा [०] उडडस्(सु)त सहि-
सुत रा० कम(णं)णश्रेयोर्थ पुत्र सीमेण स्तंभो (स्तंभः)
कारितः ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—शृंगारचौकी के दरवाजे के दायीं ओर स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४५६

१. तीर्थदर्शन, पृ० २६० ।

२. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह पृ० ४३३-३४ ।

५—सं० १४९३ चैत्र वदि २ चाहडभार्या कुंती पुत्र... ..
कारापिता ॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—तृतीय दरवाजे के ऊपर
उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त. लेखाङ्क ४५७

६—संवत् १४९३ वर्षे वैशाख सुदि १३

प्रतिष्ठास्थान—महावीरजिनालय—चतुर्थ दरवाजे के ऊपर उत्कीर्ण
लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४५८

७—सं० १५२१ वर्षे भाद्रपद सुदि पडवेदिने । नांदियापुरवास्तव्य
प्राग्वाटज्ञातीय व्य० दूल्हा भार्या दूली पुत्रव्य० जूठाकेन भार्या
जसभादे भ्रातृ व्य० मउवा जाला वरजांगषेतादिकुटुम्बयुतेन
स्वश्रेयसे । श्रीमहावीरप्रासादे देवकुलिका कारिता ॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय-पहली देहरी के दरवाजे के
ऊपर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४६०

८—सं० १५२९ वर्षे मा० व० ३ गुरो दिने । प्राग्वाटज्ञातीय सीदरथा-
ग्रामवास्तव्य कुटुम्बयुतेन श्रीमहावीरप्रासादे
देवकुलिका कारिता स्वश्रेयोर्थ श्रीतपागच्छनायक श्री श्रीरत्न-
शेखरसूरि श्रीश्रीश्रीसोमजयसूरि(भिः) ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—द्वितीय देहरी के दरवाजे पर
उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४६३

९—सितिणिसी (शी) लवंता (त्या) च सद (द्) भावभक्तिसंजुता
(क्तियुक्तया) ।

जिनगृहे से (शै) लस्थंभा (स्तंभौ) द्वौ मंडपस्तंभि (स्तंभौ) था
(स्था) पिताः (तौ) ॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—सभामंडप के दायीं ओर
द्वितीय स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४६७

१०—चालुक्यवंसो (शो)दभव महणा
... .. थंभ (स्तंभ) १ ॥

प्रतिष्ठा स्थान—महावीर जिनालय—सभामंडप के बायीं ओर
द्वितीय स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४६८

- ११—(१) श्रीधर्मनाथ व्य० जूठा
(२) श्रीशंभव पांची
(३) श्रीमहावीर व्य० झाला
(४) श्रीशीतल श्रा० पूरी
(५) श्रीवासुपूज्य व्य० मउठा
(६) सुमति व्य० मेघा
(७) श्रीमहावीर
(८) श्रीशांति मेढा
(९) श्रीमहावीर व्य० चांपा
(१०) श्रीविमल व्य०ना
(११) श्रीशांति श्रा० हा
(१२) श्रीशांति व्य० हाना जाला
(१३) श्रीशीतल श्रा०

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—भमती की देहरी की मूर्ति
पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४६९

अंतिम तीन लेखों में प्रतिष्ठा तिथि/मिति का कोई निर्देश
नहीं है ।

वर्तमान में इस जिनालय का जीर्णोद्धार श्वेताम्बर जैनसंघ, बम्बई
द्वारा सम्पन्न कराया गया है ।

नागहृद

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत नागहृद का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहां भगवान् पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है

“कलिकुण्डे नागहृदे च श्रीपार्श्वनाथः”

नागहृद, आज नागदा के नाम से विख्यात है। अभिलेखों में इसका नाम नागद्रह भी मिलता है। स्थानीय किंवदन्तियों में इसका सम्बन्ध नागों से जोड़ा जाता है। गुहिलवंशीय शासक नागादित्य इस नगरी का संस्थापक माना जाता है।

नागदा गुहिलों की राजधानी और जैन, वैष्णव तथा शैव धर्मानुयायियों का एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा है।

दिगम्बर आचार्य मदनकीर्ति ने शासनचतुत्रिंशिका में यहाँ के पार्श्वनाथ की वन्दना की है—

स्रष्टेति द्विजनायकैर्हरिरिति [प्रोद्गीयते] वैश्र(ष्ण)वै
बौद्धैर्बुद्ध इति प्रमोदविवशैः शूलीति माहेश्वरेः ।
कुष्ठाऽनिष्ट-विनाशनो जनदृशां योऽलक्ष्यमूर्तिविभुः
स श्रीनागहृदेश्वरो जिनपतिदिग्वाससां शासनम् ॥ १३ ॥

अर्थात् - द्विजनायक-ब्राह्मण जिन्हें 'स्रष्टा', वैष्णव हरि (विष्णु), बौद्ध 'बुद्ध' और माहेश्वरी-शैव 'शूली' बड़े हर्षपूर्वक बतलाते हैं तथा जो कुष्ठ और अनिष्टों को विनष्ट करने वाले हैं, अर्थात् जिनके दर्शनादिमात्र से कुष्ठजनों का कोढ़ तथा दर्शनार्थी भव्यों के नाना अनिष्टों का सर्वथा नाश हो जाता है और साधारण लोगों के लिये जिनकी मूर्ति अलक्ष्य (अदृश्य) है वह श्री नागहृदतीर्थ के नागहृदेश्वर (पार्श्व) जिनेन्द्रप्रभु दिगम्बर शासन का लोक में प्रभाव स्थापित करें।

प्राकृतनिर्वाणकाण्ड (१२वीं-१३वीं शती ई० सन्) तथा तीर्थ-वन्दना (उदयकीर्ति-१२वीं-१३वीं शती ई० सन्) में भी इस तीर्थ का उल्लेख मिलता है—

पासं तह अहिणंदण णायद्दह मंगलाउरे बदे ॥ १ ॥

प्राकृतनिर्वाणकाण्ड (अतिशय क्षेत्रकाण्ड)

नायद्दह पासु सयंभुदेउ,
हउं वंदउं जसु गुण णत्थि छेउ ॥

तार्थवन्दना ॥६॥

तपागच्छीय मुनिसुन्दरसूरि (ई० सन् १५वीं शती) द्वारा नागहृद-
पाश्वर्नाथस्तोत्र की रचना किये जाने का भी उल्लेख मिलता है ।
उनके द्वारा रचित गुर्वावली में भी इस तीर्थ का उल्लेख है —

खोमाणभूभृत्यकुलजस्ततोऽभूत् समुद्रसूरिः स्ववशं गुरुर्यः ।
चकार नागहृदपाश्वर्तीर्थं विद्याम्बुधिर्दिवसनान् विजित्य ॥

गुर्वावली श्लोक-३९

वि०सं० १४३७/ई० सन् १३८० में लिखे गये एक विज्ञप्तिपत्र,
जो स्व० श्रीअगरचन्दजी नाहटा के संग्रह मे है, में भी इस तीर्थ का
उल्लेख है और खरतरगच्छीय आचार्य जिनोदयसूरि द्वारा यहाँ तीर्थ
यात्रा हेतु पधारने की चर्चा है ।

यहाँ नमिनाथ का भी एक जिनालय था जिसका निर्माण माण्डव-
गढ़ के प्रसिद्ध श्रेष्ठी पेथड़शाह ने कराया था । इस जिनालय का
उल्लेख मुनिसुन्दरसूरि द्वारा रचित गुर्वावली तथा तीर्थमालाओं^१ में
भी मिलता है —

... .. नागहृदे श्रीनमिः । गुर्वावली-१९६

“नागद्रहि पासं तू नमी छूटि”

तीर्थमाला-श्रीजिनतिलकसूरिविरचित

“नागद्रहि नमी लीलविलास”

तीर्थमाला-शीलविजयविरचित

उक्त मन्दिर आज विद्यमान नहीं है ।

आज यहां दो प्राचीन जिनालय हैं । प्रथम जिनालय अलाउ
(Alau) पाश्वर्नाथ के नाम से जाना जाता है ^२ इसे दिल्ली के बाद-
शाह इल्तुतमिश के शासनकालमें क्षतिग्रस्त कर दिया गया । इस जिना-
लय में वि०सं० १३५६/ई०सन् १३०० तथा वि०सं० १३९१/ई० सन्
१३३५ के दो लेख विद्यमान हैं । ^३ इन लेखों में जिनालय के पुनरुद्धार

१. अम्बालाल पी० शाह-जैनतीर्थसर्वसंग्रह-द्वितीय भाग; पृ० ३३६-३३८
२. Dhaky, M. A.—“Nagada's Ancient Jaina Temple”
SAMBODHI Vol-4 No. 3-4 Pp.-83-85.
३. Ibid.

की चर्चा है। वि०सं० १३५६ के लेख में दिगम्बर सम्प्रदाय के मूल संघ का उल्लेख है।^१ यह जिनालय स्थापत्यकला की दृष्टि से ११वीं शती में निर्मित माना जाता है। इसका भव्य शिखर मारु-गुर्जर शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।^२

द्वितीय जिनालय शांतिनाथ का है और अद्भुद्जी के नाम से जाना जाता है।^३ इसमें मूलनायक के रूप में भगवान् शांतिनाथ की श्याम पाषाण की ९ फुट ऊँची विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। प्रतिमा की चरण चौकी पर वि० सं० १४९४/ई० सन् १४३७ का लेख उत्कीर्ण है।^४

इसके अलावा यहाँ परवर्ती काल में निर्मित अन्य कई छोटे-छोटे जिनालय भी हैं।

नाणा

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत नाणा का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ भगवान् महावीर के मंदिर होने की बात कही गयी है।

नाणा आज नाना के नाम से जाना जाता है।^५ १०वीं शती से १५वीं शती तक यह नगर विकसित दशा में विद्यमान रहा। ई० सन् १२२६ के लगभग नाणा के समीपवर्ती क्षेत्रों पर चाहमानवंशीय नरेश धांधलदेव, जो वीरधवल का पुत्र था, चौलुक्य नरेश भीम ‘द्वितीय’ [ई० सन् ११७८-१२४१] के सामन्त के रूप में शासन करता रहा।^६ १२३० ई० के लगभग यह क्षेत्र आबू के परमार शासक सोमसिंह के अधिकार में आया, परन्तु बाद में देवराचाहमानों ने इस पर पुनः अधिकार कर लिया। ई० सन् १६०२ के लगभग यह क्षेत्र मेवाड़ के राणा अमरसिंह के अधीन रहा।

१. Progress Report of the Archaeological Survey of India, Western circle—1905-06, P. 63.
२. Dhaky—Ibid.
३. शाह, अम्बालाल, पी पूर्वोक्त, पृ० ३३६-३८
४. वही तथा नाहर, पूरनचन्द जैनलेखसंग्रह भाग—२, लेखाङ्क १९५८
५. यह स्थान पश्चिमी रेलवे के अहमदाबाद-अजमेर लाइन के मध्य नाना स्टेशन से ३ मील दूर स्थित है।
६. जैन, कैलाशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ४१६।
७. वही, पृ० ४१६।

नाणा जैन धर्म के केन्द्र के रूप में विशेषकर यहाँ स्थित जीवन्त-स्वामी की प्रतिमा के कारण विशेष रूप से प्रतिष्ठित रहा। यहाँ स्थित महावीर जिनालय से १०वीं शती का एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त जिनालय उक्त समय के आस-पास ही निर्मित हुआ होगा।

इस जिनालय में वि० सं० ११६८, वि० सं० १२०३, वि० सं० १२४०, वि० सं० १५०५, वि० सं० १५०६ और वि० सं० १६५९ के लेख भी उत्कीर्ण हैं। इन लेखों में जिनालय के जीर्णोद्धार, नवीन जिन प्रतिमाओं के निर्माण, उनकी प्रतिष्ठा एवं जिनालय को दिये गये दानादि के उल्लेख हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ वि० सं० १०१७

जिनालय के द्वार के ऊपर दाहिनी ओर उत्कीर्ण लेख

२—वि० सं० ११६८ माघ...

जिनालय में श्रृंगारचौकी के दरवाजे के ऊपर पहले तोरण पर उत्कीर्ण लेख।

३ वि० सं० १२०३ कार्तिक वदि १५

जिनालय की परिक्रमा में चौमुख के पास दरवाजे के बारशाख पर उत्कीर्ण लेख

४—वि० सं० १२०३ वैशाख सुदि १२ सोमवार

जिनालय की परिक्रमा में रखी कायोत्सर्ग मुद्रा में शांतिनाथ की एक खंडित एवं अपूज्य प्रतिमा का लेख।

५—वि० सं० १२०३ वैशाख सुदि १२ सोमवार

जिनालय की परिक्रमा में रखी कायोत्सर्ग मुद्रा में नेमिनाथ की एक खंडित एवं अपूज्य प्रतिमा का लेख।

६—वि० सं० १२४० फाल्गुन सुदि २ बुधवार

जिनालय के गूढमंडप में दाहिनी ओर दीवाल के पास मूर्ति के नीचे परिकर की चरणचौकी पर उत्कीर्ण लेख।

७—वि० सं० १२७४ ज्येष्ठ वदि ५ मंगलवार

जिनालय के गूढमंडप में नन्दीश्वरद्वीप के पट्ट पर उत्कीर्ण लेख।

८—वि० सं० १४२९ माघ वदि ७ सोमवार

जिनालय में रखी पार्श्वनाथ की घात पंचतीर्थी का लेख।

९—वि० सं० १५०५ माघ वदि ९ शनिवार

जिनालय में मूलनायक महावीरस्वामी की पालथी के ऊपर सम्मुख भाग में उत्कीर्ण लेख जिसमें ज्ञानकीय (नाणकीय) गच्छ के आचार्य शांतिसरि द्वारा महावीर स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है ।

१०—वि० सं० १५०५ माघ वदि ९.....

जिनालय में मूलनायक महावीर स्वामी के पालथी के ऊपर दूसरी ओर उत्कीर्ण लेख ।

११ १२—वि० सं० १५०६ माघ वदि १० गुरुवार

जिनालय में मूलनायक के परिकर की चरणचौकी पर एवं मूलनायक के बायीं ओर कायोत्सर्ग प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख ।

१३—वि० सं० १५१२ फाल्गुन सुदि ८ शनिवार

धर्मनाथ की धातु चौबीसी पर उत्कीर्ण लेख ।

१४—वि० सं० १५१३ वैशाख सुदि १० गुरुवार

पार्श्वनाथ की धातु की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख ।

१५—वि० सं० १५१५ माघ सुदि १५

संभवनाथ की प्रतिमा का लेख ।

१६—वि० सं० १५३० माघ वदि ६

संभवनाथ की प्रतिमा का लेख ।

१७—वि० सं० १५३४ माघ सुदि ९

वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख ।

१८—वि० सं० १५७२ वैशाख सुदि ५ सोमवार

पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख जिसमें संडेरगच्छीय शांतिसूरि द्वारा प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने की चर्चा है ।

१९—वि० सं० १६२२ वैशाख सुदि ३ सोमवार

पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख ।

२०—वि० सं० १६२३ वैशाख शुक्रवार

शांतिनाथ की प्रतिमा जिसमें तपागच्छीय हरिविजयसूरि द्वारा उक्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा की चर्चा है ।

२१—वि० सं० १६३० वैशाख वदि ८

आदिनाथ की प्रतिमा का लेख ।

२२-वि० सं० १६५९ भाद्रपद सुदि ७ शनिवार

जिनालय में नव चौकी के सम्मुख भाग में पाट पर उत्कीर्ण लेख ।

इनके अलावा जिनालय में मूलनायक के पीछे दीवाल पर दो मूर्तियों एवं नबीन चौकी के बायीं ओर भी लेख उत्कीर्ण हैं, परन्तु इनमें काल निर्देश नहीं है ।

उक्त सभी लेख नाणा स्थित महावीर जिनालय में उत्कीर्ण हैं । इन लेखों के सम्बन्ध में विस्तार के लिए द्रष्टव्य—

मुनि जयन्तविजय—संपा० अर्द्धाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह,
लेखाङ्कः ३४१-३६४

नाणा से ही नाणकीयगच्छ जिसका श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, अस्तित्व में आया । इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा - नाणगच्छ, नाणागच्छ, नाणावालगच्छ, ज्ञानकीयगच्छ आदि । यह गच्छ वि. सं. की ११वीं शती के लगभग अस्तित्व में आया और १६वीं शती के अन्त तक विद्यमान रहा । शांतिसूरि इस गच्छ के पुरातन आचार्य माने जाते हैं । उनके बाद सिद्धसेनसूरि, धनेश्वरसूरि और महेन्द्रसूरि क्रमानुसार गच्छनायक हुए । इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों के यही चार नाम पुनः पुनः मिलते हैं । चैत्यवादी गच्छों में प्रायः यही परम्परा मिलती है । ऐसा प्रतीत होता है कि गच्छ के प्रारम्भिक एवं प्रभावशाली आचार्यों के नाम उनके 'पट्ट' के रूप में रूढ़ हो जाते थे और उन पर प्रतिष्ठित होने वाले मुनि को आचार्य पद के साथ-साथ गच्छनायक के रूप में उक्त 'पट्ट-नाम' भी प्राप्त होता रहा ।

नाणकीयगच्छ^१ के मुनिजन चैत्यों, जिनमंदिरों एवं उपाश्रयों की देख-रेख में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करते रहे । श्रावकों को नूतन जिनालय एवं तीर्थंकर-प्रतिमाओं के निर्माण की प्रेरणा देना और उनकी आडम्बरपूर्वक प्रतिष्ठा करना ही इनका प्रधान कार्य रहा । विधिमागियों द्वारा चैत्यवास के प्रबल विरोध के बाद भी दीर्घ-काल तक चैत्यवासियों का अस्तित्व बना रहना समाज पर इनके व्यापक प्रभाव का परिचायक है ।

१. नाणकीयगच्छ के सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य "नाणकीयगच्छ"—
श्रमण—वर्ष ४०, अंक ७, पृ० २-३४

८. श्रीफलवर्द्धिकापार्श्वनाथकल्प

फलवर्द्धिका (वर्तमान फलौधी) जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है । साहित्यिक तथा अभिलेखीय साक्ष्यों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है । ऐसा माना जाता है कि फलवर्द्धिकादेवी के नाम पर ही इस स्थल का नाम फलवर्द्धि प्रचलित हुआ । जिनप्रभसूरि ने इस तीर्थ का उल्लेख किया है और यहां पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही है । उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“सपादलक्ष देश में मेड़ता नगरी के अन्तर्गत फलवर्द्धि नामक एक ग्राम है, जहाँ फलवर्द्धिकादेवी का ऊँचे शिखरों वाला चैत्य है । यह ग्राम पहले एक समृद्ध नगर था परन्तु कालान्तर से उजड़ कर साधारण गाँव मात्र रह गया । धीरे-धीरे वणिक लोग यहाँ पुनः बसने लगे, उनमें दो जैन श्रावक भी थे—पहला श्रीमालवंशीय धांधल और दूसरा ओसवालवंशीय शिवंकर । उन्हें स्वनादेश से भूमि से पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई, जिसे उन्होंने चैत्य बनवाकर वि० सं० ११८१ में राजगच्छीय शीलभद्रसूरि के शिष्य वादीन्द्र धर्मघोषसूरि के वरद हस्तों से चतुर्विधसंघ के समक्ष प्रतिष्ठित करायी । कालान्तर में सुल्तान सहाबुद्दीन गोरी ने मूलबिम्ब को भग्न किया, तब अधिष्ठायक-देव ने म्लेच्छों को रुधिर-वमन एवं अन्धत्व से पीड़ित किया, जिससे सुल्तान ने यहाँ कभी भी आक्रमण न करने का फरमान दिया । चूँकि मूल प्रतिमा भग्न हो चुकी थी, अतः श्रावकों ने दूसरी प्रतिमा स्थापित करनी चाही, परन्तु अधिष्ठायक देव ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया । आज भी वह प्रतिमा विकलांग रूप में ही पूजी जाती है ।”

उपरोक्त विवरण में ग्रन्थकार ने फलवर्द्धिका ग्राम में जैन श्रावकों द्वारा भूमि से पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त करने, तत्पश्चात् चैत्य निर्मित कराने एवं वादीन्द्रधर्मघोषसूरि द्वारा वि० सं० ११८६ में चतुर्विध संघ के समय उसे नवनिर्मित चैत्य में प्रतिष्ठित करने की बात कही है । इसी प्रकार का विवरण पुरातनप्रबन्धसंग्रह^१ में भी प्राप्त होता है, परन्तु चैत्य बनवाने वाले श्रावक तथा प्रतिमा प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य तथा समय के बारे में मतभेद है । इस

१. “फलवर्द्धितीर्थप्रबन्ध” पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ३१

प्रमाण के अनुसार पारस नामक श्रेष्ठी ने भूमि से प्रतिमा प्राप्त कर चैत्य बनवाया तथा वादिदेवसूरि ने वि० सं० ११९९ में मूर्ति की प्रतिष्ठा की और वि० सं० १२०४ में चैत्यशिखर स्थापित किया। पुरातनप्रबंधसंग्रह की इस मान्यता का समर्थन निम्नलिखित ग्रन्थों से भी होता है —

१—उपदेशतरंगिणी —^१ रत्नमंदिरगणि (वि० सं० १५१७) ।

२—उपदेशसप्तति:^२—सोमधर्मसूरि (वि० सं० १५०३) ।

३—धर्मसागरीय तपगच्छपट्टावली^३—१५ वीं शती ।

परन्तु उक्त सभी ग्रन्थ पश्चात्कालीन हैं और इनका आधार ग्रन्थ पुरातनप्रबंधसंग्रह भी कल्पप्रदीप के बाद का है, अतः जिनप्रभ की बात ज्यादा प्रामाणिक मानी जा सकती है। भिन्न गच्छ के होते हुए भी जिनप्रभसूरि ने गच्छभेद की संकीर्णता से दूर रहते हुए वास्तविक तथ्य को ही लिखा होगा। इसप्रकार स्पष्ट है कि राजगच्छीय शील-भद्रसूरि के शिष्य वादिन्द्र धर्मघोषसूरि ने वि० सं० ११८१ में फल-वर्द्धिकाग्राम में नवनिर्मित जिनालय में पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की और चैत्य शिखर पर कलशारोहण किया।

आज यहाँ जो पार्श्वनाथ का मंदिर है, संभवतः वही पुराना मंदिर हो सकता है। इस जिनालय से दो अभिलेख मिले हैं,^४ उनमें से एक

१. “श्रेष्ठि पारसदृष्टान्तः” उपदेशतरंगिणी, पृ० ११०

२. संपादक—अमृतलाल मोहनलाल—उपदेशसप्तति “श्रीफलवर्द्धितीर्थोत्पत्तौ पासलिश्रावकप्रबन्ध” पृ० ३२-३३

३. तपगच्छपट्टावली, पृ० १२९

४. संवत् १२२१ मार्गसिर सुदि ६ श्रीफलवर्द्धिकायां देवाधिदेव श्री पार्श्वनाथ चैत्ये श्री प्रागवाट वंसी (शी) य रोपि मुणि मं० दसाढाभ्यो आत्मश्रेयार्थ श्री चित्रकूटीय सिलफट सहितं चन्द्रको प्रदत्तः शुभं भवत् ॥

नाहर, पूरनचन्द—जैनलेखसंग्रह भाग १, लेखाङ्क ८७०

चैत्यो नरवरे येन श्री सल्लक्ष्मट कारिते । पंडपो मंडनं लक्ष्या कारितः
संघ भास्वता ॥ १ ॥ अजयमेरु श्री वीर चैत्ये येन विधापिता श्री देवा
बालकाः ख्याताश्चतुर्विंशति शिखराणि ॥२॥ श्रेष्ठी श्री मुनि चंद्राख्यः
श्री फलवर्द्धिका पुरे उत्तान पट्ट श्री पार्श्वचैत्येऽचीकरदद्भू भूतं ॥ ३ ॥

वही, लेखाङ्क ८७१

वि०सं० १२२१ का है और दूसरा मितिबिहीन है। दूसरे अभिलेख में लक्ष्मट और मुनिचन्द्र का उल्लेख है। राजस्थान में बिजोलिया नामक ग्राम से प्राप्त वि०सं० १२२२ के एक अभिलेख^१, जो दिगम्बर आमनाय से सम्बन्धित है, में मुनिचन्द्र और उसके भतीजे लोलक की वंशावली दी गयी है और लोलक द्वारा वि०सं० १२२२ में जिनालय निर्माण कराने का उल्लेख है। लोलक के चाचा मुनिचन्द्र को उससे कम से कम २० वर्ष पहले रखा जा सकता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वि०सं० १२०० के लगभग फलोधी स्थित पार्श्वनाथ जिनालय में मुनिचन्द्र ने उत्तानपट (फर्श) का निर्माण कराया होगा।

इस प्रकार फलोधी पार्श्वनाथ जिनालय से प्राप्त मितिबिहीन अभिलेख का समय वि० सं० १२०० के लगभग माना जा सकता है। लक्ष्मट, मुनिचन्द्र और उसका भतीजा लोलक दिगम्बर आमनाय से सम्बन्धित थे और इनके द्वारा फलोधी पार्श्वनाथ के श्वेताम्बर चैत्यालय में “उत्तानपट” का निर्माण कराया गया। इस विवरण से दो संभावनायें प्रकट होती हैं—

१—इस चैत्यालय को वि०सं० १२०० के लगभग दिगम्बरों ने अपने अधिकार में ले लिया हो !

अथवा

२—दिगम्बर श्रावक मुनिचन्द्र ने धार्मिक सद्भावनावश इस श्वेताम्बर जिनालय में उत्तानपट का निर्माण कराया हो।

जहाँ तक शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण का प्रश्न है, यह सत्य है कि उसने वि०सं० १२३५ ई० सन् ११७८ में गुजरात पर आक्रमण किया था।^२ उस समय वहाँ मूलराज ‘द्वितीय’ (ई० सन् ११७६-११७८) का शासन था।^३ चौलुक्यों ने आबू के पास काशहूद में गोरी को रोका और उसे परास्त कर वापस लौटने को विवश कर दिया।^४ गोरी के गुजरात पर आक्रमण करने का मार्ग फलोधी होकर

१. जोहरापुरकर, विद्याधर—जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेखाङ्क २६५
२. पाठक, विशुद्धानन्द—उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ० ४८२
३. वही, पृ. ४८२ और ५४३
४. हबीबुल्ला—फाउण्डेशन ऑफ मुसलिमरूल इन इंडिया पृ. ५३;
पाठक, पूर्वोक्त, पृ० ५४३-४४

ही रहा होगा और आक्रमणार्थ जाते समय वह मार्ग के मंदिरों को तोड़ता गया होगा। जिनप्रभसूरि ने गोरी के आक्रमण के समय यहाँ जिन प्रतिमा को भग्न करने की बात तो कही है परन्तु जिनालय तोड़ा गया अथवा नहीं, यह अज्ञात है। उन्होंने आक्रामकों के अन्धत्व एवं रुधिर वमन से ग्रसित होने की जो बात कही है, वह उनका व्यक्तिगत कोप ही समझना चाहिए।

मुण्डस्थल

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत मुण्डस्थल का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ भगवान् महावीर के मंदिर होने की बात कही गयी है।

मुण्डस्थल आज मुंगथला के नाम से प्रसिद्ध है। और वर्तमान सिरोही जिले में अवस्थित है। यहाँ वि०सं० ८९५/ई० सन् ८३८ का एक शिवालय विद्यमान है^१, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि ९वीं शती में यह नगरी अस्तित्व में आयी होगी। यहाँ स्थित महादेव और महावीर के मंदिर अपनी प्राचीनता के लिये प्रसिद्ध हैं।^२

मुण्डस्थल जैन तीर्थ के रूप में पूर्व मध्ययुग में प्रतिष्ठित हुआ। उत्तरकालीन जैन परम्परानुसार महावीर स्वामी ने छद्मवस्था में अर्बुदमंडल में विहार किया और गणधर केशी ने यहाँ उनका एक जिनालय निर्मित कराया। यह बात अष्टोत्तरीतीर्थमाला (महेन्द्रसूरि ई० सन् १३वीं शती)^३ तथा इस जिनालय से प्राप्त वि० सं ५४२६ के एक शिलालेख^४ से ज्ञात होती है। परन्तु ये बातें स्पष्टतः काल्प-

१. शाह, अम्बालाल पी० — जैनतीर्थसर्वसंग्रह, पृ० २७९

२. वही

३. मुनि विशालविजय—मुण्डस्थलमहातीर्थ, पृ० १५ से उद्धृत

४. पूर्वे छद्मस्थकालेऽर्बुदभुवि यमिनः कुर्वतः सद्विहारं [सप्त] त्रिंशे च वर्षे वहति भगवतो जन्मतः कारितास्ताः (सा)। श्रीदेवार्थस्य यस्योल्लसदुपलमयी पूर्णराजेन राज्ञा श्रीकेशीसु (शिना) प्रतिष्ठतः स जयति हि जिनस्तीर्थ—मुण्डस्थलस्तुः (स्थः) ॥

मुनि जयन्तविजय—अर्बुदाचलप्रदक्षिणा जैनलेख संदोह, लेखाङ्क ४८

निक हैं अतः इनकी ऐतिहासिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ स्थित महावीर जिनालय कब बनवाया गया। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं होनी। यहां से प्राप्त सबसे प्राचीन लेख वि० सं० १२१६/ई० सन् ११५८ के हैं। ये लेख मंदिर के स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। इनमें जिनालय के सभामण्डप के स्तम्भों के निर्माण कराये जाने की बात कही गयी है।^१ इस आधार पर यह माना जा सकता है कि यह मंदिर उक्त तिथि (वि०सं० १२१६) के पूर्व कभी निर्मित हुआ होगा। वि०सं० १३८९/ई० सन् १३३२ में धाँधल ने अपने माता-पिता के श्रेयार्थ इस जिनालय में २ जिनप्रतिमायें स्थापित करायीं। ये प्रतिमायें आज आबू स्थित लूणवसही के गूढमंडप में रखी गयी हैं।^२ वि० सं० १४२६/ई० सन् १३६९ में प्राग्वाटजातीय महीपाल के पुत्र श्रीपाल ने इस जिनालय का पुनर्निर्माण कराया, इस अवसर पर प्रतिमा की स्थापना और कलशारोहण कोरंटगच्छीय श्रीकक्कसूरि के पट्टधर सर्वदेवसूरि द्वारा सम्पन्न कराया गया।^३ काण्हदेव के पुत्र वीसलदेव ने इस जिनालय को वि० सं० १४४२/ई० सन् १३८५ में एक ग्राम तथा अन्य वस्तुयें दान में दीं। यह बात यहां से प्राप्त उक्त तिथि (वि०सं० १४४२) के एक अभिलेख से ज्ञात होती है।^४ इसके अलावा यहां वि०सं० १५०१ से वि०सं० १६८६ तक के लेख भी विद्यमान हैं, जिनमें इस जिनालय को दानादि प्राप्त होने और इसके पुनर्निर्माण का उल्लेख करते हैं।^५ जैन श्रावकों की एक बड़ी संख्या यहाँ निवास करती थी, वे यहाँ होने वाले उत्सव आदि में पूर्ण सहयोग करते थे।^६ वि०सं० १७२२ में रचित एक तीर्थमाला में

१. अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क ४४, ४५, ४६, ४७.
२. संवत् १३८९ वर्षे फागु (लगु) ण सुदि ८ श्रीकी (को) रटकीयगच्छे मह० पूनसीह भा० पुनसिरि सुत, धाधलेन भ्रातृ मूलू गेहा खा सहितेन मुण्डस्थल सत्कश्रीमहावीरचैत्ये निजमातृपितृश्रेयोथं जिनयुगलं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीनय (न्न) सूरिभिः।
मुनि जयन्तविजय—अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क २४५
३. अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह—लेखाङ्क ४९, ५०
४. मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ५१।
५. मुनि विशालविजय—पूर्वोक्त, पृ० ३२।
६. जैन, कैलाशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ४१९।

भी इस तीर्थ का उल्लेख है और यहां जिनालय में १४५ प्रतिमाओं के विद्यमान होने की बात ही गयी है।^१ धीरे धीरे यह नगरी उजड़ गयी और वर्तमान में तो एक साधारण ग्राम मात्र ही अवशिष्ट है। १७वीं शती के पश्चात् इस स्थान का उल्लेख किसी भी स्रोत (साहित्यिक अथवा पुरातात्विक) में प्राप्त नहीं होता, अतः यह माना जा सकता है कि उसी समय से इस नगरी की अवनति प्रारम्भ हुई होगी।

१० शुद्धदन्ती स्थित पार्श्वनाथ कल्प

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदोप के अन्तर्गत “शुद्धदन्तीनगरी” का भी उल्लेख किया है और यहाँ पार्श्वनाथ के मंदिर होने का बात कही है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“पूर्वकाल में अयोध्या नगरी में राजा दशरथ के पुत्र आठवें बलदेव श्रीपद्म ने भगवान् पार्श्वनाथ की एक रत्नमयी प्रतिमा अपने निजी चैत्रशालय में स्थापित की। कालक्रम से पूर्व देश में दुर्भिक्ष पड़ने से अधिष्ठायाकदेव ने उक्त प्रतिमा गगनमार्ग से सातसौदेश के शुद्धदन्ती नामक नगरी में भूमिगृह में रख दी और उसे रत्नमय से पाणाणमय बना दिया। बहुत काल बीतने पर सोधतिवालगच्छ में विमलसूरि नामक एक जैनाचार्य को स्वप्न में उक्त प्रतिमा के बारे में जानकारी मिली तब उन्होंने प्रतिमा प्राप्त कर एक नवनिर्मित चैत्य में उसे स्थापित कर दी। कालचक्र के प्रभाव से एक बार तुर्कों ने यहाँ आक्रमण किया और पार्श्वनाथ की उक्त प्रतिमा के सिर को धड़ से अलग कर दिया। उस समय वहाँ आये एक अजापालक ने भूमि पर पड़े प्रतिमा के सिर को उठाकर उसके धड़ पर रख दिया जिससे वह तुरन्त जुट गयी। आज भी वही प्रतिमा वहाँ पूजी जाती है।”

जिनप्रभ के उक्त विवरण का सार यही है कि सोधतिवालगच्छीय किसी विमलसूरि नामक एक जैनाचार्य को स्वप्नादेश से भूमि से पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई जिसे उन्होंने यहाँ एक नवनिर्मित चैत्य में स्थापित कर दिया और बाद में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने इस जिनालय और प्रतिमा को भग्न कर दिया।

१. विजय धर्मसूरि—संपा० प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, भाग २, पृ० ६०।

ग्रन्थकार के उक्त विवरण से अप्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है कि सोधतिवालगच्छीय विमलसूरि १४वीं शती के पूर्व हुए थे उन्हें प्रतिमा प्राप्त होने के पहले भी शुद्धदन्ती नगरी जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रही, क्योंकि किसी भी स्थान को जैनतीर्थ के रूप में प्रसिद्ध होने के पश्चात् ही वहाँ से किसी गच्छ का उदय होना संभव है। जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित विमलसूरि एवं उनके गच्छ के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। उन्होंने यहाँ के जिनालय एवं प्रतिमा को मुसलमानों द्वारा भग्न किये जाने की जो बात कही है, वह भी सत्य माननी चाहिए, क्योंकि इस युग में किसी मुस्लिम आक्रमणकारी द्वारा मंदिरों को भग्न कर देना एक सामान्य बात थी। जहाँ तक इस तीर्थ की प्राचीनता का प्रश्न है, सिद्धसेनसूरि द्वारा वि० सं० ११२३/ई० सन् १०६७ में रचित **सकलतीर्थ स्तोत्र**^१ में इसका उल्लेख है जिससे यह माना जा सकता है कि ११वीं शती के आसपास कभी यह स्थान जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ होगा। हेमहंससूरि द्वारा वि० सं० १४७७ में लिखित मातृकाक्षर तीर्थमाला में भी इस तीर्थ का उल्लेख है।^२ वि०सं० १६६७ में अकबर के आमन्त्रण पर लाहौर जाते समय खरतरगच्छीय युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि शुद्धदन्ती नगरी में ही ठहरे थे, यह बात श्री जिनचन्द्र सूरिअकबरप्रतिबोधरास से ज्ञात होती है।^३

शुद्धदन्ती नगरी आज सोजत के नाम से जानी जाती है। आज यहाँ १० जिनालय विद्यमान हैं, ये १७ वीं शती से १९ वीं शती के मध्य निर्मित हैं।^४ इस प्रकार स्पष्ट है कि यह नगरी ११ वीं शती से ही जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित है और आज भी इसका प्राचीन गौरव

१. खंडिल—डिडूआयण नराण—हरसडर खट्टऊदेसे ।

नागउरमुव्विदंतिमु संभरिदेसंमि वंदेमि ॥ २४ ॥

दलाल, सी० डी०—डिस्कृप्टिव कैटलॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडार्स ऐट पाटन पृ० १५६

२. आदरणीय श्री भंवरलाल जी नाहटा से उक्त सूचना प्राप्त हुई है, जिसके लिये लेखक उनका आभारी है।

३. नाहटा, अगरचन्द, भंवरलाल—संपा० ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह (कलकत्ता वि०सं० १९९४) पृ० ६७ ।

४. शाह, अम्बालाल—जैनतीर्थसर्वसंग्रहतीर्थसूची, पृ० ३७९-३८२

विद्यमान है। राजस्थान प्रान्त के वर्तमान जोधपुर जिले में सोजतरोड रेलवे स्टेशन से ७ मील दूर यह तीर्थ स्थित है।^१

११. सत्यपुर तीर्थ

सत्यपुर (वर्तमान सांचोर) जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। जिन-प्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ पर एक स्वतन्त्र कल्प लिखा है, जिसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“नाहड़ राय नामक एक राजपुत्र ने जज्जिगसूरि नामक एक जैना-चार्य की प्रेरणा से सत्यपुर नगरी में जिन महावीर की पीतल की प्रतिमा एवं जिनालय का निर्माण कराया। वीरनिर्वाण सम्वत् ६०० के लगभग उक्त जैनाचार्य ने उस प्रतिमा को नवनिर्मित चैत्य में स्थापित किया। वि०सं० ८४५ में गजनीपति हम्मीर ने वलभी नगरी के एक श्रेष्ठी रांका के आमन्त्रण पर वलभी नरेश शीलादित्य पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर मार डाला एवं उसकी नगरी का भंग किया। वि०सं० १०८१ में गजनीपति गुजरात को लूटते हुए सत्यपुर पहुँचा और यहाँ स्थित महावीर चैत्यालय को नष्ट करने का प्रयास किया, जो विफल रहा। मालवनरेश गुजरात पर आक्रमणार्थ सत्यपुर की सीमा तक आ पहुँचे, परन्तु ब्रह्मशान्ति के प्रभाव से भयाक्रान्त हो वे वापस लौट गये। वि०सं० १३४८ में देश पर मुगलों का भीषण आक्रमण हुआ। वे एक के बाद दूसरे प्रदेश को लूटते हुए सत्यपुर की सीमा तक आगये, परन्तु इसी समय उन्हें बघेलानरेश सारंगदेव के आगमन की बात ज्ञात हुई और वे वापस लौट गये। वि०सं० १३५६ में अला-उद्दीन खिलजी के छोटे भाई उलगूखान ने चित्रकूट और गुजरात पर आक्रमण किया। चित्रकूट के नरेश समरसिंह ने कर देकर मेवाड़ की रक्षा की। इसके बाद वह पश्चिम की ओर बढ़ा और मेहसाणा, बागड़ आदि देशों को लूटता हुआ आशापल्ली तक गया। राजा कर्णदेव ने भाग कर अपनी जान बचायी। इसके पश्चात् उसने वामनस्थली जाकर माण्डलिक राजा को दंडित किया। सोमनाथ के मंदिर को नष्ट कर उसके अनेक अवशेषों को दिल्ली भेज दिया। इस प्रकार सौराष्ट्र को

१. शाह—अम्बालाल, पूर्वोक्त, पृ० ३७९-३८२।

अपने साम्राज्य में मिलाने के पश्चात् वह वापस लौट गया। इस बार भी आक्रमणकारियों ने सत्यपुर के महावीर जिनालय को कोई क्षति नहीं पहुँचायी। वि०सं० १३६७ में अलाउद्दीन खिलजी ने यहाँ आक्रमण किया तथा चैत्यालय को नष्ट कर प्रतिमा अपने साथ दिल्ली ले गया।”

सत्यपुर का सर्वप्रथम उल्लेख चौलुक्य नरेश मूलराज ‘प्रथम’ (ई० सन् ९४१-९९६) के वि०सं० १०५२/ई० सन् ९९५ के एक दान शासन^१ में प्राप्त होता है। इसीप्रकार सत्यपुर स्थित महावीर चैत्यालय का सर्वप्रथम उल्लेख परमारनरेश भोज (ई० सन् १०११-१०५५) के मंत्री धनपाल द्वारा रचित “सत्यपुरमहावीरजिनोत्साह^२” नामक स्तोत्र में हुआ है। इन विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह नगरी १०वीं शतीके लगभग कभी अस्तित्व में आयी होगी और ई० सन् की ११ वीं शती के आसपास इस महावीर जिनालय का निर्माण हुआ होगा। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए जिनप्रभ के इस बात जिसके अनुसार वीरनिर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् यहाँ महावीर का जिनालय निर्मित कराया गया, यह बात स्वीकार्य नहीं प्रतीत होती। जहाँ तक निर्माणकर्ता का प्रश्न है, हो सकता है कि नाहड़ राय^३ नामक किसी व्यक्ति ने उक्त निर्माण कराया हो। ग्रन्थकार ने वि०सं० ८४५ में वलभी नगरी पर गजनी के सुलतान द्वारा आक्रमण करने का उल्लेख किया है। यह सत्य है कि ई० सन् ८वीं शती के अन्तिम चरण में भारत पर विदेशी आक्रमण हुआ, परन्तु यह आक्रमण अरबों की ओर से हुआ था न कि गजनी के सुलतान की ओर से। दूसरे वि०सं० ८४५ में यह आक्रमण नहीं हुआ बल्कि वि०सं० ८३३ के लगभग हुआ था।^४ अतः यह कहा जा सकता है कि जिनप्रभ की यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है।

१. इपिग्राफियाइंडिका, जिल्द १०, पृ० ७८।
२. जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अङ्क २ के अन्तर्गत प्रकाशित।
३. डा० दशरथ शर्मा राजस्थान थ्रो द एजेज, (बीकानेर, ई० सन् १९६६, पृ० १२२ ओर आगे) ने नाहड़राय को प्रतिहार नरेश नागभट्ट ‘प्रथम,’ जिसका ८वीं शती ई० सन् का उत्तरार्ध माना जाता है, से समकृत किया है। परन्तु हमें १० वीं शती से पहले सत्यपुर के अस्तित्व का ही पता नहीं चलता अतः यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती।
४. विर्जी, के० जे०-एन्शेंट हिस्ट्री ऑफ सौराष्ट्र, पृ० १०२।

ग्रन्थकार ने वि०सं० १०८१ में गजनीपति द्वारा गुजरात पर आक्रमण करने के पश्चात् सत्यपुर स्थित महावीर जिनालय को नष्ट करने का असफल प्रयास करते हुए उल्लिखित किया है। यह आक्रमणकारी महमूद गजनवी था, जिसने वि० सं० १०८१ में भारत पर आक्रमण किया था तथा सोमनाथ के मंदिर को लूट लिया था। यह बात अन्य साक्ष्यों से भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है।^१ महाकवि धनपाल ने भी कहा है कि तुर्कों ने धार, श्रीमाल, अणहिलवाड़, चन्द्रावती आदि स्थानों पर स्थित जिनालयों को नष्ट कर दिया, परन्तु सत्यपुर के महावीर मंदिर को क्षति पहुँचाने में वे असफल रहे।^२ इसप्रकार जिनप्रभ की यह बात, जिसका अन्य साक्ष्यों से भी समर्थन होता है, प्रामाणिक मानी जा सकती है। ग्रन्थकार वे मालवनरेश द्वारा गुजरात पर आक्रमणार्थ सत्यपुर तक पहुँचने का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने आक्रामक का नाम, घटना की तिथि आदि बातों की चर्चा नहीं की है। आक्रामक का आक्रमण किये बिना लौट जाना एवं तत्सम्बन्धी जिस घटना की चर्चा उन्होंने की है वह और अनैतिहासिक है। इसके साथ-साथ अन्य किसी भी साक्ष्य से मालव नरेश द्वारा गुजरात पर आक्रमण करने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अतः जिनप्रभ का यह विवरण भ्रामक माना जा सकता है। वि०सं० १३४८ में उन्होंने देश पर मुगल आक्रमण होने की बात कही है। परन्तु इस तिथि में भारतवर्ष पर किसी विदेशी आक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता। वि०सं० १३४२/ई० सन् १२८५ में यहाँ मंगोलों का आक्रमण अवश्य हुआ था,^३ उस समय बलवन (ई० सन् १२६६-१२८६) दिल्ली का बादशाह था। उसके ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद ने मंगोलों को हरा कर वापस लौटने को विवश कर दिया, परन्तु वह स्वयं इस युद्ध में मारा गया। लेकिन इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह घटना ग्रन्थकार के यौवनावस्था में घटित हुई थी अतः विचारणीय है।

१. मजुमदार और पुसालकर—द स्ट्रिगिल फॉर एम्पायल, (बम्बई, १९६६) पृ० ६ और आगे।
२. “सत्यपुरमहावीरजिनोत्साह”, गाथा ५-७ जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अङ्क २ में प्रकाशित।
३. मजुमदार और पुसालकर—पूर्वोक्त, पृ० १५५।

अलाउद्दीन खिलजी के भाई उलगूखान ने चित्तौड़ और गुजरात पर आक्रमण किया था। जिनप्रभसूरि ने इस आक्रमण की तिथि वि०सं० १३५६।ई० सन् १२९९ बतलायी है। मुस्लिम इतिहास लेखकों ने भी प्रायः यही तिथि बतलायी है।^१

अलाउद्दीन ने वि० सं० १३६७/ई० सन् १३१० में राजपुताना पर आक्रमण कर सिवाना और जालोर को जीत लिया और उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया।^२ इस संदर्भ में जिनप्रभ का यह कथन कि उसने सत्यपुर के महावीर चैत्यालय को नष्ट किया, एवं प्रतिमा को दिल्ली भेज दिया, विश्वसनीय प्रतीत होता है। एक विजेता और मुस्लिम शासक होने के नाते वह गर्व से प्रायः अनेक देवालयों को नष्ट करता हुआ वापस लौटा होगा। उक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि सत्यपुर पर प्रथम बार वि०सं० १०८१ में महमूद गजनवी द्वारा आक्रमण किया गया और दूसरा आक्रमण अलाउद्दीन खिलजी द्वारा वि०सं० १३६७ में किया गया। इस बीच के वर्षों में यहाँ शान्ति रही और इस तीर्थ का बहुत महत्त्व रहा। यह बात यहाँ से प्राप्त वि० सं० १२२५,^३ वि०सं० १२४२^४, वि०सं० १२७७^५, और वि०सं० १३२२^६ के अभिलेखों ज्ञात होती है। इसके अलावा चौलुक्य नरेश अजयपाल (वि० सं० १२२९-१२३२) के दण्डनायक आल्हण ने यहाँ के वीरचैत्य में महावीर स्वामी की प्रतिमा स्थापित करायी।^७ वि० सं० १२८८ के लगभग वस्तुपाल-तेजपाल ने इस तीर्थ के महिमास्वरूप गिरनार पर्वत पर

१. मजुमदार और पुसालकर-दिल्ली सल्तनत, (बम्बई, १९६७) पृ० १९। वही, पृ० ३३।
२. वही, पृ० ३३।
३. नाहर पूरन चन्द्र-जैन लेख संग्रह, भाग १-३ (कलकत्ता ई० १९१८-२९) लेखाङ्क ९३२।
४. जैन, कैलाश चन्द्र-ऐन्शेंट सिरीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, (दिल्ली, ई० सन् १९७२) पृ० १९८।
५. शाह, अम्बालाल-जैनतीर्थसर्वसंग्रह, पृ० ३०५।
६. वही, पृ० ३०५।
७. देसाई, मोहनलाल दलीचंद-जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (बम्बई, ई० सन् १९३३) पृ० ३४२।

‘सत्यपुरीयावतार’ नामक मंदिर का निर्माण कराया^१। इसप्रकार स्पष्ट होता है कि १२-१४ वीं शती में सत्यपुर एक अत्यन्त प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहा और इसी प्रसिद्धि के कारण ही विधर्मी लोगों ने इसका नाश किया ।

सत्यपुर आज सांचोर के नाम से जाना जाता है । यह स्थान वर्तमान राजस्थान प्रान्त के जोधपुर शहर से २१२ कि० मी० दक्षिण पश्चिम में लूणी नदी के तट पर स्थित है ।^२ यहाँ आज ५ जिनालय विद्यमान हैं परन्तु वे आधुनिक काल के हैं ।^३ यहाँ का प्राचीन जिनालय सर्वथा नष्ट हो चुका है ।

१. सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादिवस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह, संपा० मुनि जिन-त्रिजयमुनि (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५, बम्बई वि०सं० २०१७) पृ० ४४-४८ ।
२. जैन, कैलाशचन्द्र-पूर्वोक्त, पृ० १९८ ।
३. त्रिपुटी महाराज-जैनतीर्थोन्नो इतिहास, पृ० ३१६



सिया and असिया

TWO PRAKRIT FORMS AND PISCHEL ON THEM*

—Dinanath Sharma

While preparing the word-index cards of the Ācārāṅga Śrutaskandha I, I came across two Prakrit forms. viz. सिया (सिता) and असिया (असिता) and looking for their meanings I was surprised to find that their meanings in Sanskrit and Hindi translations were in agreement but Pischel differs from their meaning given in Hindi translation and Sanskrit paraphrase or translation of Prakrit text.

The concerned Sanskrit and Hindi translation are as follows :—

I संति पाणा पुढो सिता¹

(a) Sanskrit paraphrase according to Pūjya Śilāṅkācārya is as follows :—

*This paper was read at the 32nd All India Oriental Conference, held at Ahmedabad in October, 1985.

1. Ācārāṅga P-1, Ch-1, Ud-2, Su-11.

Editor—Jambuvijayji, Mahavir Jain Vidyālaya, Bombay-1977.

सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिताः²

(b) Sanskrit translation :—

सन्ति विद्यन्ते प्राणाः सत्त्वाः पृथक् पृथग्भावेन अङ्गुला-
सङ्ख्येय स्वदेहावगाहनया पृथिव्या आश्रिताः । सिता वा
सम्बद्धा इत्यर्थः ।³

(c) Hindi translation :—

पृथ्वीकायिक जीव पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं ।⁴

English translation :

See ! there are beings individually embodied
in the earth. ⁵

II. The some reading is available at other place in
Ācārāṅga. ⁶

III. One more reference is as follows :—

सिता वेगे अणुगच्छन्ति असिता वेगे अणुगच्छन्ति ।⁷

(a) Sanskrit rendering :—

सिताः वा एके अनुगच्छन्ति असिताः वा एके अनुगच्छन्ति ।⁸

(b) Sanskrit Commentary :—

सिताः पुत्रकलत्रादिभिरवबद्धाः वा उत्तरापेक्षया पक्षान्तरमाह
'एके' लघुकर्मणः सम्यक्त्वं प्रतिपादयन्तमाचार्यं अनुगच्छन्ति
आचार्योक्तं प्रतिपद्यन्ते तथा असिता वा गृहवासविमुक्ता वा
एके आचार्यं अनुगच्छन्ति ।⁹

2. Śrī Ācārāṅga Commentary by Śrīlāṅkācārya. Śrī Siddha-
cakrasāhitya Pracāraka Samiti, Bombay, 1935 A. D.

3. Ibid.

4. Āyāro, Editor—Muni Nathmal, Jain Vishva Bhārati,
Ladnun. 2031 V. S.

5. Prof. H. Jacobi (SBE. Vol. XXII, P. 3).

6. Ācārāṅga 1-1-6-3 (Jambūvijayji).

7. Ācārāṅga 1-5-5-2 (Jambūvijayji's).

8. Ācārāṅga Śrīlāṅkācārya's Commentary.

9. Ibid.

(c) Hindi translation :—

सांसारिक बन्धनों के आश्रित मनुष्य आचार्य का अनुसरण करते हैं और भौतिकता से विमुक्त मनुष्य भी आचार्य का अनुसरण करते हैं।¹⁰

(d) English translation :—

Some bound (by worldly ties) are followers (i. e. understand the truth). Some, who are not bound are followers.¹¹

In these references सिया is for Skt. श्रिताः or सिताः, Hindi : आश्रित or बद्ध and English embodied and असिया is for Sanskrit अश्रिताः, असिताः Hindi मुक्त; English : not bound.

It is clear that these are past passive forms of the roots √श्रि or √सि which are used as nominative plural.

But Pischel explains as optative forms of the root √अस् (स्यात् and न स्यात्). It is sure that the Prakrit text which Prof. Pischel consulted might have been other than what I have referred to.

No matter whatever may be the edition of the text but the context remains the same. Therefore, I feel that Prof. Pischel has been misled in explaining these two nominal forms as optative verbal forms. Whether, we may rely or not on the text edited by other scholars, the text of Shubring, a renowned authority on the subject is as follows :—

पुढो-सिया, पुढो-असिया ।

It means these two words are in the nominal

10. Āyāro (Muni Nathmalji).

11. SBE. (Prof. H. Jacobi) Vol-XXII.

form of a compound. Thus it proves that सिया and असिया are nominal forms and not verbal optative forms. Under the circumstances I suggest that this correction in light of the available evidence be applied.

**Asstt. Research Officer
P. V. Research Institute
Varanasi-5**

भट्ट अकलंककृत लघीयस्त्रय

एक दार्शनिक अध्ययन

शोधकर्ता—हेमन्तकुमार जैन

सारांश प्रस्तुति—डा० कपूरचन्द जैन

भट्ट अकलंक जैन न्याय और दर्शन के एक व्यवस्थापक आचार्य हैं। पूर्व परम्परा से प्राप्त जिस चिन्तन की दार्शनिक दृष्टि से अदम्य तार्किक समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे महान आचार्यों ने नींव के रूप में प्रतिष्ठापना की थी, उसी नींव के ऊपर सकलतार्किकचक्रचूड़ामणिभट्ट-अकलंक ने जैन न्याय और तर्कशास्त्र का अभेद और चिरस्थायी प्रासाद खड़ा किया है। उन्होंने अपने समकालीन विकसित दर्शनान्तरीय विचारधाराओं के गहन अध्ययनपूर्वक अपने ग्रन्थों में उनकी विस्तृत समीक्षा करके सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि सभी पदार्थों का संस्कृत भाषा में अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण तार्किक शैली से उपस्थित किया और सूत्र-शैली में अत्यन्त गूढ़ ऐसे ग्रंथों का सृजन किया, जो कभी उस समय जैन परम्परा में खल रही थी। बाद में भट्ट अकलंक के इन ग्रन्थों पर प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, वादिराज, अभयचन्द्र जैसे आचार्यों ने बृहद् भाष्य ग्रन्थ लिख डाले। अकलंक ने प्रमाण-परिभाषा, उसके फल, विषय, मुख्य प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाणान्तर्गत अनुमानादि, जय-पराजय व्यवस्था, वाद कथा आदि को परिभाषित करके जैन न्याय को इतना व्यवस्थित और समृद्ध कर दिया था कि उनके बाद आज तक किसी को नवीन चिन्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसे महान् दार्शनिक की कृतियों में से एक कृति “लघीयस्त्रय” के दार्शनिक विवेचन के रूप में लिखा गया यह शोध-प्रबन्ध मेरा एक प्रथम एवं लघु प्रयत्न है। इसमें लघीयस्त्रय के दार्शनिक पक्षों को स्पष्ट करने वाले आठ अध्याय रखे गये हैं, जिसका अध्याय क्रम से संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

अकलंक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इतना महान् था कि लोग उनके नाम को जिन का पर्याय समझने लगे थे। निःसन्देह इनकी कृतियों, शिलालेखों, ग्रन्थान्तर सन्दर्भों, कथाओं आदि से उनके विराट व्यक्तित्व का पता चलता है। महान् शास्त्रार्थी और वाद-विजेता के रूप में चातुर्दिक उनकी ख्याति थी। यही कारण है कि वे जैन वाङ्मय में सफल-तार्किकचक्रचूडामणि, तर्कभूवल्लभ, महर्द्धिक, तर्कशास्त्रवादीदसिंह, समदर्शी आदि विशेषणों से जाने जाते हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम परिच्छेद में उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित इन्हीं विशेषताओं पर शिलालेख आदि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डाला गया है। जीवनवृत्त से सम्बन्धित “लघुहृव्व” सन्दर्भ जो कि क्षेपक के रूप में प्रतीत होता है, उसकी अन्यत्र कहीं पुष्टि नहीं होती। कथाओं में भी उनका जीवनवृत्त प्राप्त होता है, पर इसकी अन्य किसी भी सन्दर्भ से प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। इसी तारतम्य में समीक्षक विद्वानों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर अकलंक के समय पर किये गये विचारों का पुनरीक्षण किया गया है। वह इसलिये आवश्यक हुआ कि कई विद्वानों ने अकलंक का समय बाद का निर्धारित करके उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य के रूप में समन्तभद्र से जोड़कर जैन दर्शन के इतिहास में भ्रममूलक निष्कर्ष निकाले हैं, जो बिल्कुल निराधार हैं। इसका समाधान विभिन्न समयों में लिखे गये आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों में अकलंक के नाम से एवं अकलंक की कृतियों के अन्तरंग परीक्षण से हो जाता है। समय-निर्धारण में “लघुहृव्व” नामक कथाओं में आये “शुभतुंग” का प्रसंग आदि समीक्षकों के प्रधान सहायक रहे। जिनकी ऐतिहासिक राजाओं के समय से संगति बैठकर विद्वानोंने समय निर्धारण के प्रयत्न किये हैं। सम्पूर्ण तथ्यों के अवलोकन के बाद यह सत्य प्रतीत होता है कि अकलंक का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के प्रथम परिच्छेद में अकलंक के जीवनवृत्त और समय का, मूल सामग्री से मिलानकर पुनरीक्षण किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के महान् समालोचक विद्वान् स्व० डॉ० महेन्द्र कुमार जैन ने अकलंक की कृतियों का अन्तरंग एवं बहिरंग रूप से गहन आलोचन किया है। यही नहीं, उन्होंने अगाध परिश्रमपूर्वक

टीका ग्रन्थों से न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय जैसे ग्रन्थों को खोजकर उनका स्वयं सम्पादन किया और उनकी गवेषणापूर्ण भूमिकाएँ लिखीं। लघीयस्त्रयादिसंग्रह के रूप में समवेतरूप से अकलंक के तीन ग्रन्थों का भी सम्पादन किया और विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी। हम समझते हैं उनके बाद वैसे सम्पादन का दिगम्बर परम्परा में बिल्कुल ही अभाव सा हो गया। हम यह भी कह सकते हैं कि उनके बाद संस्कृत में लिखे गये अकलंक के ग्रन्थों का अर्थ न समझने वाले विद्वानों के लिए स्व० डॉ० जैन की कृतियाँ एवं विभिन्न ग्रन्थों में लिखी गयीं भूमिकाएँ अकलंक, जैनन्याय एवं दर्शन का हार्द समझने के लिये पर्याप्त हैं। प्रथम अध्याय के प्रस्तुत इस द्वितीय परिच्छेद में अकलंक के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय स्व० डॉ० जैन के अध्ययन के आधार पर तैयार किया गया है। इसमें हमने यहाँ कोशिश की है कि उन कृतियों का वास्तविक परिमाण एवं कृतित्व का प्रमाण और अन्तरंग परिचय संक्षिप्त रूप में सामने आ जाये। इस अध्ययन में हमने देखा कि उनकी उपलब्ध कृतियाँ मात्र छह ही प्राप्त होती हैं, जिनका नामकरण अकलंक के परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया जान पड़ता है, क्योंकि उन ग्रन्थों का नाम अकलंक का दिया हुआ है, ऐसी सूचना उनके ग्रन्थों से प्राप्त नहीं होती।

उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ भाष्य और स्वतंत्र इन दो रूपों में प्राप्त होती हैं। उनकी कुछ स्वतंत्र कृतियाँ ऐसी हैं, जिन पर उन्होंने स्वयं वृत्ति या भाष्य लिखा है। उनकी उपलब्ध प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. तत्त्वार्थवार्तिक (वार्तिक एवं उस पर भाष्य)
२. अष्टशती (आप्तमीमांसासालंकार, भाष्य)
३. लघीयस्त्रय (सवृत्ति)
४. न्यायविनिश्चय (सवृत्ति)
५. सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति)
६. प्रमाणसंग्रह

इन कृतियों के अतिरिक्त स्वरूपसंबोधन आदि और भी कृतियाँ हैं, जो उपलब्ध तो हैं परन्तु विवादग्रस्त मानी जाती हैं। अनुपलब्ध एवं विवादग्रस्त कृतियाँ बृहत्त्रय और न्यायचूलिका मानी जाती हैं। प्रस्तुत परिच्छेद में उपर्युक्त सभी कृतियों का अन्तरंग एवं बहिरंग परिचय संक्षेप में दिया गया है।

मेरा शोध का विषय “भट्टाकलंककृतलघीयस्त्रय : एक दार्शनिक विवेचन” होने के कारण परिच्छेद तृतीय में लघीयस्त्रय का विशेष परिचय दिया गया है। इसमें इसके वास्तविक परिमाण निर्धारित करने के साथ “लघीयस्त्रय” के रूप में ग्रंथ के नाम पर विशेष ऊहापोहपूर्वक विचार किया गया है। अन्तरंग विषय-वस्तु के परिचय के अन्तर्गत प्रवेश और परिच्छेद के क्रम से प्रमाण, नय और प्रवचन के सम्बन्ध में उनके विचारों को रखा गया है।

“प्रमाणमीमांसा की आगमिक परम्परा ज्ञानमीमांसा” नामक द्वितीय अध्याय के परिच्छेद प्रथम में तीर्थंकरों से लेकर अकलंक तक प्रमाण के आगमिक रूप, ज्ञान की चर्चा की गयी है। इसमें हम पाते हैं कि किस प्रकार प्रमाण के अभाव में ज्ञान से उसका कार्य किया जाता था। वस्तुतः परम्परागत सम्यक् और मिथ्या के रूप में ज्ञान का वर्गीकरण एक तरह से प्रमाण और प्रमाणाभास के पूर्वरूप की सूचना देता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में, परम्परा से चले आये ज्ञान के इन दो भेदों को आधार मानकर ज्ञानों का किस प्रकार प्रमाणों में वर्गीकरण हुआ, इसका वर्णन प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में किया गया है। इसमें बताया गया है कि परम्परागत प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों के आधार पर बाद के दार्शनिकों द्वारा उन्हें स्पष्टरूप में प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया। आत्मसापेक्ष प्रत्यक्ष और इन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय सापेक्ष परोक्ष के रूप में विभाजित उस ज्ञान गंगा की धारारूपी परम्परा कुन्दकुन्द तक अनवरत रूप से प्रवाहित होती रही, परन्तु ज्ञान को प्रमाण-रूप में स्वीकृति देने वाले उमास्वामी और उनके बाद के आचार्यों द्वारा अनिन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को आत्मसापेक्ष ज्ञान के साथ संयुक्त कर लिया गया, बाद में यही प्रमाणों के वर्गीकरण का मुख्य आधार बन गया।

तत्पश्चात् प्रमाण की अनेक परिभाषाएँ दी गयीं और अकलंक ने ज्ञान को प्रमाण मानकर और उसमें अनधिगतार्थ, अविश्ववादी और व्यवसायात्मक जैसे पदों का समावेश कर प्रमाण की एक अकाट्य परिभाषा दी। “प्रमाणमीमांसा” नामक प्रस्तुत तृतीय अध्याय के परिच्छेद प्रथम में इसका ऐतिहासिक सन्दर्भ में मूल्यांकन किया गया है। इसी अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में दर्शनान्तर सम्मत प्रमुख प्रमाण

परिभाषाओं की समीक्षा करके परिच्छेद तृतीय में प्रमाण के भेदों का भी विवेचन किया गया है ।

“प्रत्यक्ष प्रमाण” नामक चतुर्थ अध्याय में मुख्य-प्रत्यक्ष और सांख्य-वहारिक प्रत्यक्ष के रूप ये दो परिच्छेद रखे गये हैं । इसमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप की विशदता का समालोचनात्मक दृष्टि से आकलन करते हुए उनके भेदों की चर्चा की गयी है । तत्पश्चात् मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप एवं अतीन्द्रिय ज्ञान—केवलज्ञान के प्रतिपादनपूर्वक विभिन्न उक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सुनिश्चित रूप से सर्वज्ञ के अस्तित्व में बाधक प्रमाणों का अभाव होने से वह स्वयं ही सिद्ध है । “मुख्य प्रत्यक्ष” नामक इस परिच्छेद में उपर्युक्त चर्चा के साथ अवधि-ज्ञान और मनःपर्ययज्ञानों के संक्षिप्त स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है ।

“सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष” नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में इसके स्वरूप और अवान्तर भेदों की चर्चा की गयी है । इसमें यह बताया गया है कि परम्परा से परोक्ष के रूप में स्वीकृत मतिज्ञान में किस प्रकार शब्दयोजना से पहले प्रत्यक्षत्व है । इसकी एवं इसके भेदों की सांख्यवहारिक के भेद-इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समीक्षा की गयी है ।

“परोक्ष प्रमाण की परिभाषा एवं भेद” नामक पंचम अध्याय के प्रथम परिच्छेद में ऐतिहासिक विवेचनपूर्वक यह दिखाया गया है कि शब्दयोजना होने पर स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि परोक्ष क्यों हो जाते हैं । तत्पश्चात् द्वितीय परिच्छेद में स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन परोक्ष के पाँच भेदों की विस्तृत समीक्षा की गयी है, जिसमें इनके स्वरूप एवं अवान्तर भेदों के निरूपण के साथ दर्शनान्तरीय मतों की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है । इसमें इन प्रमाणों के मानने का आधार इनका स्वातंत्र्य आदि विषयों पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है । अनुमान (प्रत्यभिज्ञान) प्रमाण के अन्तर्गत उसका स्वरूप, व्याप्ति का स्वरूप, एकलक्षण का स्वरूप, हेतु का स्वरूप एवं उसके भेदादि का तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श उपस्थित किया गया है । तत्पश्चात् अंत में आगम-श्रुत प्रमाण की चर्चा की गयी है । दर्शाना-

न्तर सम्मत उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का परोक्ष प्रमाण में विभिन्न युक्तियोंपूर्वक अन्तर्भाव दिखाया गया है।

“प्रमाण का विषय, फल और प्रमाणाभास” के प्रतिपादन के लिए अध्याय षष्ठ रखा गया है। इसमें बताया गया है कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त अर्थ, अनेकात्मक हैं। इसलिए प्रमाण के विषय की उपलब्धि एकान्तिक दृष्टि से नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में बौद्धादि के गम्य स्वलक्षण, क्षणिकवाद, सन्तानवाद, नित्यवाद आदि की समीक्षा की गयी है। प्रमाणफल की चर्चा में यह सिद्ध किया गया है कि युगपद् सर्वाविभासक ज्ञान-प्रमाण का फल उपेक्षा; क्रमभावि ज्ञान-प्रमाण का फल उपेक्षा तथा हेय एवं उपादेय बुद्धि है तथा सभी ज्ञान-प्रमाण का फल अपने विषय में अज्ञान का नाश है। गति आदि ज्ञानों में साक्षात्फल और परम्परा फल के सयुक्तिक विवेचनपूर्वक अवग्रहादि भेदों की प्रमाणफल व्यवस्था बतायी गयी है। इसी अनुक्रम में प्रमाणपत्र के भिन्नत्व-अभिन्नत्व पर विचार करने के साथ विभिन्न मतावलम्बियों की प्रमाणफल की व्यवस्था की समीक्षा की गयी है। प्रमाणाभास की चर्चा में प्रमाणाभास का स्वरूप, भेद, उनके आधार तथा अन्य मतावलम्बियों के मत को किस प्रमाणाभास के अन्तर्गत रखा जाय; इत्यादि पर विचार किया गया है।

अध्याय सप्तम “नयसीमांसा” में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में सकलादेशी नय की परिभाषा पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों—ज्ञाता का अभिप्राय, वक्ता-श्रोता की स्थिति, नय के स्वरूप की ऐतिहासिक दृष्टि, सुनय-दुर्नय आदि पर विचार करके, नय के भेदों पर विचार किया गया है। इसमें बताया गया है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके रूप में मूलनय दो ही हैं। परन्तु नयों का अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी विभाजन किया जा सकता है। नैगमादि नयों को इन्हीं नय के मूल दो भेदों में विभक्त किया गया है। इस प्रसंग में अकलंक के इन कथन से कि “निश्चय और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आश्रित नय हैं” निश्चय और व्यवहार की समस्या का समाधान हो जाता है। इस अध्याय के द्रव्यार्थिक नय नामक द्वितीय परिच्छेद में द्रव्यार्थिक नय की व्युत्पत्ति, स्वरूप, अर्थनय के रूप में उसकी मान्यता आदि के विचारपूर्वक इसके भेद

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नयों की मीमांसा अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत की गयी है। “पर्यायार्थिक नय” नामक परिच्छेद तृतीय में पर्यायार्थिक नय की परिभाषा, उसके भेद, शब्दादि नयों को पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत रखने के कारण शब्दादि नयों का स्वरूप आदि के प्रतिपादनपूर्वक इस अध्याय के अन्त में नयाभासों का भी विवेचन किया गया है।

प्रवचन अथवा आगम : “प्रमाणमीमांसा” नामक अष्टम अध्याय को दो परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद में प्रवचन का स्वरूप, उसकी प्रमाणता का आधार, विषयवस्तु, अधिगम के उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप, श्रुत के उपयोग, प्रवचन का प्रयोजन एवं फल आदि के बारे में लिखा गया है।

मुख्य और सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष मति, श्रुत आदि के प्रत्यक्ष और परोक्षत्व आदि से सम्बन्धित अकलंक की कुछ ऐसी व्यवस्था थी, जिसके कारण प्रतीत होता है कि अकलंक को स्वतंत्ररूप में प्रवचनप्रवेश लिखना पड़ा। जिसमें उन्होंने परम्परा से प्राप्त चिन्तन को विवेचित किया है। इसमें उन्होंने कहा है कि सर्वज्ञ, सिद्ध, परमात्मा का अनुशासन ही प्रवचन है। आप्त की वापी प्रवचन है। इस दृष्टि से प्रवचन या आगम की प्रमाणता का मुख्य आधार आप्त के गुण सिद्ध होते हैं। प्रवचन की यह परम्परा अनादिकालीन है और उसका विषय जीव-अजीवादि के अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन है, जिसका प्रतिपादन स्याद्-वादपद्धति से किया जाता है। उनके अधिगम के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप आदि साधन के रूप में माने गये हैं। इन सभी का उक्त अध्याय के प्रथम परिच्छेद में प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में श्रुत के स्याद्वाद और नय के रूप में दो उपयोगों की चर्चा के साथ अत्यन्त आवश्यक होने के कारण अनेकान्तवाद का भी प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् लघीपत्रय के प्रवचनप्रवेश के आधार पर स्याद्-वाद, नय, श्रुत, नय के भेद, निक्षेप का स्वरूप भेद एवं उसका प्रयोजन प्रवचन का फल एवं प्रवचन शास्त्र अभ्यास की विधि आदि का विवेचन किया गया है।

निःसन्देह जैन न्याय और दर्शन की पर्याय के रूप में अकलंक को यदि माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम

जैन दर्शन में अन्य दर्शनों में विकसित दर्शन और न्याय के समान जैनन्याय और दर्शन को संस्कृतभाषा में निबद्ध कर लघीयस्त्रय जैसे महान् सूत्रात्मक ग्रंथों का प्रणयन किया। इन ग्रंथों में उन्होंने ही परम्परा से प्राप्त चिन्तन को युग के अनुरूप ढाँचे में ढालने के लिये सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, नय आदि की अकाट्य परिभाषायें स्थिर की तथा अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध न्याय और तर्कशास्त्र के ऐसे बीज जो जैन परम्परा में नहीं थे, स्वीकार कर उन्हें आगमिक रूप दिया।

अन्त में “उपसंहार” है, जिसमें भट्ट अकलंक द्वारा जैन न्याय और दर्शन के क्षेत्र में किये गये उनके अवदान का संक्षेप में उल्लेख करते हुए शोध के निष्कर्षों का समावेश किया गया है।

परिशिष्ट में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं भट्ट अकलंक विषयक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध लेखों की सूची प्रस्तुत की गयी है।

भारतीय दर्शनों में ऐतिहासिक दृष्टि से जैन न्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने वाले भट्ट अकलंक प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अपने तीन प्रकरणों वाले सूत्रशैली में निबद्ध लघु ग्रन्थ “लघीयस्य” में जैन न्याय का तार्किक विवेचन किया है।

अकलंक और उनके लघीयस्त्रय विषयक उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम संक्षेप में कह सकते हैं कि लघीयस्त्रय भट्टाकलंक का एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है, जिस पर किया गया मेरा यह दार्शनिक अध्ययन एक लघु प्रयास है। हम समझते हैं कि जैन न्याय और दर्शन को समझने के लिए यही एक ग्रन्थ पर्याप्त है। अब आवश्यकता इस बात की है कि भट्ट अकलंक के ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा में प्रामाणिक अनुवाद हो, जिससे संस्कृत न जानने वाले समीक्षक जैन न्याय और दर्शन का मूल्यांकन करके भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में भट्ट अकलंक एवं उनके अवदान का निर्धारण कर सकें।



विद्याश्रम समाचार

विगत ३ माह (जुलाई-अगस्त-सितम्बर) में पार्श्वनाथ विद्याश्रम की गतिविधियाँ इस प्रकार रहीं—

संस्थान के निदेशक प्रो० सागरमल जैन ने दुर्ग में आयोजित जयमल जयन्ती समारोह के अवसर पर दि० २-९-९० को धर्म एक, पंथ अनेक नामक विषय पर व्याख्यान दिया। इसी प्रकार उन्होंने पुणे विश्व-विद्यालय और पुणे जैन संघ के संयुक्त तत्त्वावधान में पुणे में आयोजित एक संगोष्ठी में दि० १६-९-९० को जैन धर्म का उज्ज्वल इतिहास नामक विषय पर एक व्याख्यान दिया। दि० २०-९-९० को उन्होंने धूलिया में विचक्षणव्याख्यानमाला के अन्तर्गत स्वाध्याय और साधना पर एक व्याख्यान दिया।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान द्वारा संचालित रुक्मिणी देवी दीपचन्द्र गार्डो उच्च अध्ययन केन्द्र के अन्तर्गत जैन विद्या के उच्च-स्तरीय अध्ययन की एवं स्नातकोत्तर प्रमाणपत्रीयपरीक्षा की कक्षाएँ प्रारम्भ हो गयी हैं। प्रमाणपत्रीपाधि पाठ्यक्रम और उच्चअध्ययन पाठ्यक्रम हेतु १०-१० मेधावी छात्रों का चुनाव कर उन्हें प्रवेश दिया गया है। संस्थान में विराजित साधु-साध्वी भी उक्त पाठ्यक्रमों के अध्ययन का लाभ ले रहे हैं।

संस्थान में प्रो० एस० बी० देव का व्याख्यान

जैन विद्या और पुरातत्त्व के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो. एस. बी. देव का जैन आगमिक व्याख्या साहित्य का महत्त्व नामक विषय पर पार्श्व-नाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के परिसर में दि० १३-९-९० को एक व्याख्यान आयोजित किया गया।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का ३५वाँ अधिवेशन विद्याश्रम में

अक्टूबर माह में संस्थान में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का ३५वाँ वार्षिक अधिवेशन आयोजित किया गया है। इसमें देश-विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के २५० प्रतिनिधियों के आने की संभावना है। अधिवेशन का उद्घाटन महामहिम उपराष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न होगा। इसी अवसर पर अनेकान्तवाद पर एक विशिष्ट संगोष्ठी भी आयोजित की गयी है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा

डा० शिवप्रसाद का रिसर्च एसोसिएट के रूप में चयन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम के लिए यह गौरव का विषय है कि संस्थान के सह-शोधधिकारी और श्रमण के सह-सम्पादक डा० शिवप्रसाद का विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मध्ययुगीन श्वेताम्बर श्रमणों के गच्छों का ऐतिहासिक अध्ययन नामक विषय पर शोध हेतु रिसर्च एसोसिएट के रूप में चयन किया गया है। उक्त शोधकार्य को पूर्ण करने के लिए संस्थान द्वारा उन्हें ५ वर्षों का अवैतनिक अवकाश प्रदान किया गया है। आशा है वे इस दीर्घ अवधि में मध्ययुगीन श्वेताम्बर जैन संघ का एक सुव्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

श्री इन्द्रेक्षचन्द्र सिंह को पीएच० डी० की उपाधि

पार्श्वनाथ विद्याश्रम के शोध सहायक श्री इन्द्रेक्षचन्द्र सिंह को उनके शोधप्रबन्ध जैन साहित्य में वर्णित प्राचीन भारतीय सैन्य-विज्ञान पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पीएच. डी. की उपाधि प्रदान की गयी। ज्ञातव्य है कि यह शोधप्रबन्ध प्रो० सागरमल जैन के निर्देशन में पूर्ण किया गया है।

श्री पंजाब जैन भ्रातृसभा के तत्त्वावधान में
 आचार्य श्री कांशीराम जी महाराज
 का १०६वाँ जन्म महोत्सव

दिनांक २४-६-९० रविवार को खार, बम्बई में पंजाब जैन भ्रातृ-सभा के तत्त्वावधान में आचार्य श्री कांशीराम जी म० का १०६ वाँ जन्मोत्सव तप-त्याग, जप-ध्यान आदि विविध साधनाओं के रूप में मनाया गया। पंच दिवसीय इस कार्यक्रम में साध्वी श्री अर्चना जी की प्रेरणा से श्री जेट्टा भाई व श्री नगीन भाई के निर्देशन में २०, २१, २२ जून को त्रिदिवसीय आवासीय ध्यान शिविर आयोजित किया गया, जिसमें पचास साधकों ने आत्म-लाभ लिया।

२३ ता. शनिवार को विपुल मात्रा में सामूहिक आयम्बिल तप साधना का कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हुआ। २४ ता. रविवार को प्रातः १०.३० बजे तपस्वी श्री लाभचन्द्र जी म. का अहिंसा हॉल, खार में चातुर्मास हेतु मंगल प्रवेश हुआ। ११ बजे साध्वी श्री मनीषा जी, और अचला जी के मंगलाचरण से कार्यक्रम का शुभारम्भ हुआ। सर्वप्रथम पंजाब जैन भ्रातृसभा के ६ वर्ष से १६ वर्ष के मध्य आयु वाले बच्चों ने अपने विचारों द्वारा पूज्यश्री की जीवन-झाँकी प्रस्तुत की। तत्पश्चात् सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री नृपराज जी तथा वर्तमान अध्यक्ष श्री सुदर्शन जी, उपाध्यक्ष श्री राजकुमार जी, मंत्री श्री कुलभूषण जी तथा श्री योगेन्द्र पाल जी आदि कार्यकर्ताओं ने आचार्यश्री के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अपने विचार व्यक्त किये।

कार्यक्रम के अन्त में साध्वी श्री अक्षय जी, साध्वी श्री चन्दना जी, साध्वी श्री अर्चना जी, अरुण मुनि जी, श्री रतन मुनि जी, श्री सुरेश मुनि जी, सौराष्ट्र केशरी श्री गिरीश मुनि जी तथा श्री लाभचन्द्र जी म. ने आचार्यश्री के जीवन संस्मरणों को सुनाकर उनके पदचिह्नों पर चलने की प्रेरणा दी।

रोटरी एक्सचेंज स्टुडेंट कु० चेतना मुनोत का अमरीका के लिए प्रस्थान

पुणे (महाराष्ट्र) के सामाजिक कार्यकर्ता श्री कनकमलजी मुनोत की पौत्री व मूद्रण व्यवसायी श्री प्रदीप मुनोत की पुत्री कु. चेतना मुनोत रोटरी के इन्टरनेशनल यूथ एक्सचेंज कार्यक्रमान्तर्गत एक वर्ष के लिए दि. १७ अगस्त, १९९० को अमरीका के लिए रवाना हुई ।

अमरीका के मेरीलैण्ड राज्य के एलीकॉट सिटी रोटरी क्लब के सदस्यों के परिवार में रहकर वे वहाँ की संस्कृति व पारिवारिक जीवन का अनुभव प्राप्त करेंगी ।

अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व की भावना को बढ़ावा देने हेतु बनाए गए इस कार्यक्रम में रोटरी इन्टरनेशनल द्वारा करीब १६ वर्ष की उम्र के विद्यार्थियों का चयन किया जाता है और एक वर्ष की अवधि के लिए बच्चों को विदेश के रोटरी परिवारों में रहने का मौका उपलब्ध कराया जाता है। कु. चेतना मुनोत के एक्सचेंज में अमरीका के कनेक्टिकट राज्य से ब्रॉनफोर्ड शहर की कु. कैरन झीलिल्स्की का पूना में आगमन हो चुका है और उसने जूनियर कालेज में अध्ययन शुरू कर दिया है ।

